

चिन्तन-सूजन

त्रैमासिक

वर्ष 12 अंक 4

अप्रैल जून 2015

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शाल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक
बी. बी. कुमार

सलाहकार सम्पादक
कमलेश

आरथा भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपए
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपए
विदेशों में	§ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20. 00 रुपए
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपए
विदेशों में	§ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपए
अन्दर कवर	7,500.00 रुपए
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपए
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपए

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. लता सिंह, आई.ए.एस. (सेवा-निवृत्त), सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदग, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@gmail.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. कॉलेज से निवृत्ति (विदाई समारोह—छूटा हुआ क्लास रूम) शंकर पुण्यास्वेकर	7
2. भारत श्री अरविंद	13
3. कामायनी-दर्शन सम्पूर्णानन्द	24
4. दि ब्यूटिफुल ट्री : राष्ट्रीय शिक्षा की नवरचना रामेश्वर मिश्र पंकज	33
5. शिक्षा : संकल्पना, सम्भावनायें, समाधान जगमोहन सिंह राजपूत	45
6. भारत में शिक्षा : अंग्रेजों के आने तक शंकर शरण	60
7. ऋग्वैदिक सरमा एवं पणि आख्यान का प्राचीन ग्रीक पुराकथाओं में रूपान्तरण डॉ. राजीव रंजन उपाध्याय	72
8. गाँधी, धर्म और राजनीति : वर्तमान सन्दर्भ में नरेश कुमार अम्बष्ट	82
9. अंगिका के लोकगीतों का सांस्कृतिक स्वरूप मृत्युंजय उपाध्याय	90
विन्तन-सृजन, वर्ष-12, अंक-4	3

10. इतिहास : आलोचना और कारण कस्तूरी चक्रवर्ती	98
11. श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति और भक्त प्रदीप जुगरान	102
12. समीक्षा अरावली के मुक्त शिखर श्रीरंजन सूरिदेव	106
13. समीक्षा भारतीय ज्योतिर्विज्ञान और कालगणना की परम्परा शत्रुघ्न प्रसाद	108
14. समीक्षा उपन्यास के मूल्यांकन का परिप्रेक्ष्य लव कुमार पाठकीय प्रतिक्रिया प्राप्ति-स्वीकार	111 115 116

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

मोदी सरकार के एक साल

पिछले महीने नरेन्द्र मोदी सरकार के एक साल पूरे हुए। ऐसे में मीडिया के आइने में वे सभी चेहरे बार बार दिखने लगे हैं, जो उनके मुख्यमंत्रित्व के दौरान दिखते रहे हैं; वे व्यग्र हैं; उन्हें अच्छे दिन दिखायी नहीं देते। वे बार बार पूछते हैं कि अच्छे दिन कब आयेंगे? मोदी से अच्छे दिन की माँग करनेवालों में अधिकांश वे लोग हैं, जो अच्छे दिन की प्रतीक्षा में 68 साल गुजार सकते हैं, लेकिन मोदी को 68 सप्ताह का समय नहीं देना चाहते। देश को इन लोगों से अवश्य सावधान रहना चाहिए। वे देश में निराशा का बातावरण बनाना चाहते हैं, जो हमारे लिए ठीक नहीं।

एक अन्य वर्ग, जो प्रारंभ से ही मोदी का विरोध करता रहा है, जिसकी सक्रियता के चलते मोदी को अमेरिका जाने का वीसा नहीं मिला था, फिर से सक्रिय हो उठा है। पहले की ही तरह इस वर्ग ने मोदी सरकार पर अल्पसंख्यकों के प्रति असहिष्णु होने का आरोप लगाकर दबाव बनाया शुरू कर दिया है। उनका यह धार्मिक-राजनीतिक अभियान हिन्दू असहिष्णुता के आरोप को बनाए रखने के लिए, मोदी सरकार पर दबाव बनाए रखने के लिए, तथा इसे मोदी सरकार के छिपे एजेंडा के रूप में प्रचारित करने के लिए है। यदि वच्चे क्रिकेट खेल रहे हों और किसी धार्मिक पूजागृह का शीशा टूट जाय, कोई आपराधिक घटना हो जाय, तो उन्हें वहाँ हिन्दू असहिष्णुता के अतिरिक्त कुछ दिखायी नहीं देता। वे अभी भी बाहरी हस्तक्षेप की प्रतीक्षा में हैं; देश-हित की उन्हे चिन्ता नहीं।

एक तीसरा वर्ग है, जिसे सत्ता-परिवर्तन के साथ मक्खन-रोटी चाहिए थी; ऊँची कुर्सियाँ चाहिए थीं, जो उन्हें मिली नहीं। बड़े अधीर लोग हैं, कुछ हद तक नासमझ और आत्म-मुग्ध भी। वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से जुड़े लोग हैं, भाजपा से जुड़े लोग हैं। उन्होंने सवाल उठाने की तैयारी शुरू कर दी है। देखते रहिए, होता क्या है।

एक चौथा वर्ग भी है, जिसकी चर्चा आवश्यक है। वह मोदी का भला करने के उपक्रम में उनका तथा देश का अनभला कर बैठता है। उदाहरण के लिए हम उन मीडियाकर्मियों को ले सकते हैं जिन्होंने नेपाल में प्रधानमंत्री के इतने अच्छे काम का अपनी निहायत नासमझी से कबाड़ा कर दिया।

प्रधानमंत्री मोदी के विषय में दो बातों का उल्लेख आवश्यक है : (i) आज की भारतीय राजनीति में उनको स्थानापन्न करनेवाला, उनका विकल्प कोई भी नजर नहीं आता; (ii) यह सत्य नहीं है कि मोदी सरकार ने अपने एक वर्ष के कार्यकाल में किसी भी क्षेत्र में कम काम किया है।

जहाँ तक मोदी के विकल्प के रूप में कांग्रेस उपाध्यक्ष राहुल गांधी की बात है, अपने लगातार दिए जानेवाले बचकाने बयानों से उन्होंने अपनी अयोग्यता साबित कर दी है। उन्हें समझना चाहिए कि नासमझ आक्रामकता देश चलाने की क्षमता पैदा नहीं करती। फिर पिछले प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह की विफलताओं, गलतियों के कारक राहुल गांधी तथा उनके चमचे तो रहे ही हैं। राहुल गांधी के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रीय नेताओं की अक्षमता से भी देश अनभिज्ञ नहीं है।

जहाँ तक प्रधानमंत्री के कार्यकाल की उपलब्धियों का प्रश्न है, उनके प्रधान-मंत्रित्व में अर्थव्यवस्था में सुधार आया है, आज हम अच्छी आर्थिक स्थिति में हैं। कुछ ऐसी आर्थिक पहल हुई है जिसके परिणाम कुछ वर्षों के बाद ही दिखेंगे। भ्रष्टाचार एवं कालेधन पर नियंत्रण पाया जा चुका है। बाहर से काला धन लानेवाले प्रयास सफल होते दिख रहे हैं।

फिर प्रधानमंत्री मोदी ने अपने पद एवं कार्यालय की गरिमा पुनर्स्थापित किया है; शासन-तंत्र अपेक्षाकृत चुस्त-दुरुस्त हुआ है। रक्षातंत्र, रेलवे आदि की व्यवस्था पटरी पर लायी जा रही है। पिछले एक वर्षों में देश का आत्म-सम्मान एवं नागरिकों का आत्म-विश्वास बढ़ा है; विदेशों में भी हमारा सम्मान बढ़ा है।

एक बात जो प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी को दूसरे प्रधान-मंत्रियों से अलग करती है, वह है, उनके द्वारा शुरू कराये गये अभियान, जैसे स्वच्छता अभियान, जन-धन योजना अभियान, आदि। वस्तुतः ऐसे अभियानों को इस देश में पहले ही शुरू हो जाना चाहिए था, जो हुआ नहीं। लेकिन देर ही सही, अभियान शुरू तो हुए। फिर इनकी सफलता के लिए जन सहयोग आवश्यक है ताकि वे जनान्दोलन का रूप ले सकें। दुर्भाग्य है कि हमारे देश में आजादी के बाद दो जनान्दोलन चले, जो असफल रहे। प्रधानमंत्री मोदी देश में विकास को गति देने का अथक प्रयाश कर रहे हैं, लेकिन मात्र आर्थिक विकास ही काफी नहीं है। उन्हें इस बात पर गौर करना चाहिए कि आखिर हम अपने इतिहास के उस छोर पर गुलाम क्यों बने जब हम विश्व के सबसे विकसित राष्ट्र थे? स्पष्टतः हमारी गुलामी के बौद्धिक कारणरहे हैं। जब हमें वैचारिक स्खलन आया तो हमारा समस्त विकास, हमारी समस्त सम्पदा हमें गुलाम होने से नहीं बचा सकी। फिर तो हमें लड़ाई आर्थिक दरिद्रता के खिलाफ ही नहीं बौद्धिक दरिद्रता के खिलाफ भी लड़नी होगी।

— बी.बी. कुमार

कॉलेज से निवृत्ति (विदाई समारोह—छूटा हुआ क्लास रूम)

शंकर पुणताम्बेकर

मैं कॉलेज से 1 जून, 1985 को सेवानिवृत्त हो गया। एम.जे. कॉलेज अच्छी संस्था थी जहाँ मैंने उन्नीस दिन कम ठीक पच्चीस वर्ष काम किया। इस संस्था में काम करना बड़ी प्रतिष्ठा की बात थी।

किसी के निवृत्त होने की खुशी में यह कितनी अच्छी बात है कि हम उसका विदाई-समारोह करते हैं। कॉलेज ने मेरा भी किया। समारोह काफी अच्छा हुआ। छुट्टी का दिन नहीं था और छुट्टी के बाद नहीं था, सो स्टाफ के सभी लोग इसमें मौजूद थे। प्रो. शेखर सोनाळकर सम्भवतः स्टाफ सेक्रेटरी थे, सो उन्होंने इसमें अगुवाई की। लोग क्या बोले मुझे पता नहीं। पर औपचारिकता भी मुझे अच्छी लग रही थी, जिस औपचारिकता को ढांग कहकर मैं अपनी रचनाओं में आड़े हाथों लेता था। किन्तु सभी के भाषणों को औपचारिकता कहकर मैं उनके साथ अन्याय कर रहा हूँ जिन्होंने निष्पृह प्यार से अपना अमूल्य समय मेरे साथ गुजारा है।

लोगों ने मेरा विदाई-भाषण खूब पसन्द किया। शेखर सोनाळकर ने ही बाद में मुझसे कहा और तेजपाल ने भी कि कुछ लोगों का कमेंट था कि हम पुणताम्बेकर को अब तक जान ही न सके—पच्चीस सालों में भी कैसे जानते जब मेरी नीति दो वाहनों के बीच के ‘कीप सेफ़ डिस्टेंस’ की थी।

कहना न होगा कि मेरे भाषण में वर्तमान शिक्षा-नीति पर व्यंग्य था और पूना के उन लोगों पर जो पूना का ऊँचा कोट पहने अन्दर से कैसे फटे हैं। मैंने पूना नाम के मिथ की धजियाँ उड़ाकर रख दीं। पूना का ऊबड़-खाबड़ काला पत्थर भी शालिग्राम और मोफसिल का चिकना शालिग्राम भी सामान्य पत्थर। वाह रे पूना। वंशवाद वैसा स्थानवाद। गनीमत कि ज्ञानपीठ का नामी साहित्य पुरस्कार न पूना को

* मायादेवी नगर, जलगाँव-2, 09403159031

गया न बंबई को। इन दो स्थानों पर ही जैसे संस्कृति-सभ्यता का विकास हुआ है, शेष महाराष्ट्र में तो आदिवासी रहते हैं। कोल्हापुर भी आदिवासी क्षेत्र में जहाँ के प्रथम मराठी ज्ञानपीठ पुरस्कार (1974) विजेता वि.सि. खांडेकर थे।

भाषण में मैंने यह भी कहा कि पूना की हिन्दी भी कुछ मत पूछिये। दे दें पानी भी और धन्यवाद भी। विश्वविद्यालय के हिन्दी के प्रमुख कह रहे हैं—आपकी बात बराबर है, और जा करके बोलो। कुछ प्राध्यापकों के लिखे प्रबन्धों में से प्रश्नपत्रों के लिए ऐसे ढेरों बाक्य मिल जायेंगे जो ‘निम्नलिखित वाक्यों को शुद्ध कीजिये’ के लिए आवश्यक होते हैं। मेरा संकेत विशेष रूप से ऐसे प्राध्यापकों की ओर था जिन्होंने हिन्दी व्याकरण की पुस्तकें लिखी थीं।

मैंने अपनी संस्था के उन प्राध्यापकों को भी आड़े हाथों लिया था जो इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति जैसे विषयों के अपने रेट-रटाये लेक्चरों के अलावा दुनिया का कुछ नहीं जानते और समझते हैं हिन्दी में क्या रखा है तथा खुद अपने विषय के शोधकार्य आदि से अपना ज्ञान नहीं बढ़ाते और भाषा के प्राध्यापकों की पी-एच.डी. का मजाक उड़ाते हैं। ये मराठी के ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता की दो किताबों के नाम भी नहीं जानते और क्रिकेट के फिसड़ी खिलाड़ी पर भी घंटों बोल सकते हैं।

निवृत्ति पर मुझे पीड़ा हुई। पर इस बात से कि अब क्लास रूम छूट जायेगा। वह क्लास रूम जिससे मेरा विदिशा और जलगाँव को मिलाकर 38 वर्ष साथ रहा। क्लास रूम कैसी अनोखी जगह जिसके चेहरे नित्य खिले हुए रहते हैं। कॉलेज क्लास रूम के तो नित्य युवा। ये युवा चेहरे अध्यापक को भी युवा बनाये रखते हैं। क्लास रूम छात्र को ही ज्ञानी नहीं बनाता, अध्यापक को भी बनाता है। ऊँचे-से-ऊँचा केबिन या कोर्ट रूम भी क्लास रूम के समकक्ष नहीं रखा जा सकता, यद्यपि इनकी प्रतिष्ठा क्लास रूम को प्राप्त नहीं है। क्लास रूम तो स्वर्ग का दुकड़ा है जहाँ छल-कपट-झूठ, चोरी-बेर्इमानी-गुप्तता नहीं। क्लास रूम ज्ञानकौशल की ही क्यारी नहीं है, संस्कृति-मूल्य की भी है। केबिन-कोर्ट रूम नियम-कानून की दहशत लिये रहते हैं, तो क्लास रूम अनुशासन-श्रद्धा की शालीनता। क्लास रूम में छात्र का ही निर्माण नहीं होता, देश का भी निर्माण होता है। आज देश की गिरावट इसलिए नहीं है कि जिम्मेदार लोगों में इसके प्रति श्रद्धा नहीं रही, बल्कि इसके प्रति उपेक्षा पनपी। इसलिए भी कि इस दूध केन्द्र के संचालक शराब के दुकानदार बन गये। इन दुकानदारों ने इस केन्द्र को केन्द्र नहीं रहने दिया, दुकान में ही बदल दिया।

क्लास रूम के 45 से 60 मिनट जो भी हों, यदि अध्यापक को पाँच-दस मिनट-जैसे न लगें तो समझिये उसमें खोट है। बड़ा अजीब काम है पढ़ाना जिसमें अध्यापक छात्रों को सन्तुष्ट भी करता है और उनमें जिज्ञासा भी पैदा करता है। इसके लिए अध्यापक में जहाँ ज्ञान चाहिए वहाँ हुनर भी; ज्ञान जहाँ गूढ़ होता है वहाँ सुन्दर भी। हुनर में तटस्थता चाहिए जिसमें व्यक्तित्व तो हो, व्यक्ति नहीं।

एक बाजार छोड़ दें, तो क्लास रूम इस दुनिया का क्या नहीं है। वह मन्दिर है, महल-स्टेडियम है, जंगल-पहाड़, रेगिस्ट्रान है। हाँ, इन सभी के पोषक तत्त्व यहाँ विद्यमान हैं। क्लास रूम से ही दुनिया को पोषक तत्त्व प्राप्त हैं। संस्कृति के नाम से प्रचलित ये पोषक तत्त्व ही हमारे प्राणवायु हैं।

आज ज्ञान संस्कृतिविहीन हो चला है। कोरा ज्ञान मनुष्य को रोबोट बना रहा है।

सीम में असीम है क्लास रूम। इसके विपरीत दरबार असीम में सीम है।

दरबार असीम में सीम नहीं रहता, इसीलिए तो क्रान्तियाँ, आन्दोलन, विप्लव होते हैं।

दरबार की सीमा, दरबार पर अंकुश, उसका सौन्दर्य है, किन्तु क्लास रूम की सीमा, क्लास रूम पर अंकुश उसकी कुरुपता है। क्लास रूम जब सीम में असीम नहीं रह जाता, तो क्रान्तियाँ न होती हों, विप्लव न फूट पड़ते हों, किन्तु सत्य कराह उठता है, संस्कृति विरुप होने लगती है।

सम्बन्धों का शिव-सत्य संस्कृति है, और आज क्लास रूम हमें केवल विज्ञान-सत्य दे रहा है, जो सर्वत्र संस्कृति शून्यता दीख पड़ती है।

विज्ञान-सत्य ने ऊँचे आकाश में उड़ने वाला हवाई जहाज तो बना दिया, पर वह ऊँचे आचरण में चलने वाला... हाँ, चलने वाला आदमी नहीं बना सका। तभी हवाई जहाज एक डाकू तो सहज उड़ा लेता है, सन्त नहीं। फिर विज्ञान-सत्य ने हवाई जहाज ही नहीं बनाया है एटम बम भी बनाया है।

हर विज्ञान-सत्य के सिक्के का दूसरा पहलू एटम बम-जैसा ही कुरुप होता है। शिव-सत्य के साथ यह बात नहीं है। वह जैसा अगाड़ी शिव है, वैसा पिछाड़ी भी।

क्लास रूम एकमात्र ऐसी जगह है जहाँ के प्रश्न और उत्तर में संघर्ष नहीं होता। और यदि संघर्ष होता है तो वह हमें शिखर की ओर ले जाता है। इस संघर्ष में दुनिया के अन्य प्रश्नोत्तर के संघर्षों की तरह सत्य और झूठ नहीं होते। क्लास रूम का संघर्ष सत्य और सत्य के बीच का ही होता है।

आप याद कीजिये कोर्ट रूम के प्रश्नोत्तर, स्टेडियम या फिल्म जगत के प्रश्नोत्तर अथवा संसद के प्रश्नोत्तर। यहाँ कई उत्तर आवरण हटाने वाले नहीं, आवरण डालने वाले होते हैं।

और ये कैसा ऊँचा स्थान पाते हैं अखबार में। आवरण डालने वाला जगत और कितना प्रतिष्ठापूर्ण! आवरण डालने वाले जगत के लोगों के मुकाबले क्लास रूम का अध्यापक कितना तुच्छ जो आवरण हटाता है।

क्लास रूम का उत्तर यदि और अधिक प्रश्न पैदा करता है, तो हम विकास की ओर अग्रसर हैं, वहाँ यदि बाहर की दुनिया का उत्तर और अधिक प्रश्न उपस्थित करे, तो हम विनाश की ओर अग्रसर हैं।

विकास के साथ आज दुनिया कितने प्रश्नों से भर गई है, जबकि हमारी विकास की दौड़ उत्तरों की खोज की दौड़ है।

वैसे यह बात भी सही है कि आदमी यदि प्रश्नशून्य हो जायेगा तो आदमी का ही अन्त हो जायेगा। आदमी ऐसा प्राणी है कि वह प्रश्न भी है उत्तर भी है, ऐसा उत्तर जो प्रश्न पैदा करता है।

पर विकास ने क्या किया जानते हैं? उसने आदमी को दो भागों में बाँट दिया है। एक वह जो प्रश्नों और प्रश्नों में जीता है और एक वह जो उत्तरों और उत्तरों को हड़पे हुए है।

सच कहा जाये तो प्रश्न-आदमी ने ही दुनिया को बनाया है और उत्तर-आदमी उसे उपभोगता है, कहें कि उस पर बलात्कार करता है।

प्रेम, कला, संस्कृति, कविता, दर्शन सभी प्रश्न-आदमी की देन हैं।

कलास रूम का आद्य संस्थापक प्रश्न-आदमी ही रहा है।

आज भी कलास रूम का अध्यापक प्रश्न-आदमी ही बना हुआ है। हाँ, वही प्रश्न-आदमी बना हुआ है जिसके पास दुनिया के प्रश्नों के उत्तर हैं।

धर्म, पैसा, सत्ता मनुष्य के विकास के टप्पे हैं, प्रश्नों के उत्तरों के। पर विकास के इन टप्पों ने जहाँ आदमी-आदमी में भेद पैदा किया, वहाँ और प्रश्न निर्माण किये। उग्र प्रश्न जिनमें से संघर्ष ही नहीं युद्ध भी पैदा हुए। हमारा इतिहास ही इनकी ओर से निर्मित प्रश्नों से उत्पन्न संघर्ष का इतिहास है। ये ऐसे प्रश्नमय उत्तर बन बैठे कि इनके सामने आदमी गौण बन गया।

यह मुझे कलास रूम ने बताया और मैंने कलास रूम को बताया। ज्ञान की इस दुनिया ने धर्म, पैसा और सत्ता को कभी प्रश्नों का उत्तर नहीं स्वीकारा, तभी इन तीनों ने ज्ञान को बराबर धिक्कारा।

हम कभी धर्मभीरु थे। और यह अच्छा लक्षण था। आज भी जो पिछड़े हुए हैं धर्मभीरु हैं। धर्मभीरु सो पिछड़े हुए और गलत काम करने से डरते हैं। विकसित के विपरीत। विकसित ने ईश्वर को शूली पर लटका दिया। ईश्वर यों ही बेकार के सवाल खड़े कर जवाब तलब जो करता है।

अब विकसित का नया ईश्वर—मॉडर्न गॉड पैदा हो गया था। और वह था पैसा।

हाँ, अब पैसा ईश्वर की भाँति सर्वशक्तिमान था। सर्वत्र उसी का बोलबाला था। जहाँ कहीं ईश्वर जिन्दा था भी तो पैसे की ही कृपा से, उसी के आश्रय में। और अब पैसे के ही कारण आदमी की भाँति ईश्वर भी छोटा-बड़ा बन गया। ऊँचे बँगले का ईश्वर ऊँचा। हाँ, ईश्वर के बँगले को बँगला नहीं मन्दिर कहते हैं।

अब मुहावरा बदल गया। सबहिं नचावत राम गुसाई—नहीं रहा। बन गया—सबहिं नचावत दाम गुसाई।

पैसे ने ईश्वर को शूली पर लटका दिया, उसी तरह राजा को भी लटका दिया। जहाँ अब धर्म पैसे की शरण को मुहताज वहाँ सत्ता भी।

जिसे आज लोकतन्त्र कहा जाता है, वह क्या पैसा तन्त्र या सेठतन्त्र ही नहीं है?

तात्पर्य आज क्या धर्म का ईश्वर और क्या सत्ता का राजा पैसे की ही मुद्दी में हैं।

यह मुझे कलास रूम ने बताया और मैंने कलास रूम को बताया। बताया ईश्वर ईश्वर ही था दैत्य नहीं, राजा राजा ही था डाकू नहीं। पर पैसा ईश्वर है तो दैत्य भी है, पैसा ऐसा राजा है जो डाकू भी है।

धर्म, पैसा और सत्ता—दुनिया इन तीनों में ही सिकुड़कर रह गई। और ये तीनों पैसे में (पैसा अपने में ही) सिकुड़कर अपना असली रूप खो बैठे हैं। धर्म चिह्न में बना रह गया जो दूसरे चिह्नों से लड़ने लगा। सत्ता नारे में भटक गई जो दूसरे नारों से लड़ने लगी और पैसा विज्ञापन में खो गया जो दूसरे विज्ञापनों से लड़ने लगा। तीनों के ही केन्द्र में आदमी नहीं था।

धर्म, पैसा और सत्ता तीनों को अब आदमी नहीं भीड़ चाहिए। धर्म जिसे मजहब या रिलीजन कहते हैं मूल में ही भीड़ के धर्म हैं। सत्ता की राजनीति तो खुल्लमखुल्ला भीड़ की राजनीति है जिसे लोकतन्त्र कहा जाता है। और पूँजी बने रहने के लिए पैसे को भी भीड़ चाहिए। तीनों के ही यहाँ अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ता।

बीसवीं शताब्दी भीड़ संस्कृति की शताब्दी है। भीड़ ने जिसे नकारा उसका अस्तित्व ही समाप्त। फिर वह धर्म का आश्रम हो, सत्ता का लोकतन्त्र हो या पैसे का शेयर मार्केट हो।

भीड़ में आदमी का अस्तित्व खो गया। आदमी जो अपने ज्ञान-चिन्तन-हुनर से जाना जाता है।

खिलाड़ी, एक्टर या गायक जिन पर भीड़ जान छिड़कती है भीड़ के अंग नहीं हैं, ये तो आसमान के लोग हैं। हाँ, भीड़ ने ही तो उन्हें चढ़ा दिया है। इसके विपरीत भीड़ को ज्ञानी, चिन्तक, साहित्यिक की जरा भी चिन्ता नहीं होती, उन्हीं की जिन्हें भीड़ की चिन्ता है और जो उसी के अंग हैं।

इसमें भीड़ का दोष भी नहीं। इसलिए कि खेल, फिल्म, बाजार के विपरीत ज्ञान, चिन्तन, हुनर भीड़ के लिए नहीं होते, वे आदमी के लिए होते हैं।

बस दुःख इस बात का है कि आदमी-संस्कृति गौण और भीड़-संस्कृति शीर्षस्थ होती जा रही है। और दुःख इस बात का भी है कि ज्ञान, चिन्तन, हुनर भी अपने लिए भीड़ चाहने लगे हैं। तभी उसके पीछे अपना आदमी-स्वरूप खो रहे हैं। ये भूल जाते हैं कि भीड़ बाढ़ होती है, प्रवाह नहीं। आँधी होती है, प्राणवायु नहीं।

यह मुझे क्लास रूम ने बताया और मैंने क्लास रूम को बताया।

निवृत्ति के कोई साढ़े तेरह वर्ष बाद मैं यह लिख रहा हूँ। और अब पढ़कर और देखकर दुःख होता है कि क्लास रूम पहले-जैसे जीवन्त क्लास रूम नहीं रह गये हैं। ऐसा इसलिए कि संस्थाओं के छात्र अब विद्यार्थी नहीं रह गये हैं, वे विद्या के ग्राहक हैं। और संस्थाओं ने उन्हें ऐसा बना दिया है।

अध्यापक के साथ भी दुकानदारी होती है। निर्धारित रकम दो और नियुक्ति खरीद लो।

इस तरह शिक्षा-संस्थाएँ भी बाजार बन गई हैं डिग्रियाँ बेचने वाली। सरकार ने ही कायदे से छूट दे रखी है। पहले व्यक्ति की ही जातियाँ होती थीं, अब संस्थाओं की भी हो गई हैं। संस्था का प्रमुख अब कठपुतली होता है जिसके सूत्र व्यवस्थापक के हाथ में होते हैं।

परीक्षा-भवन में कोई गलत काम करे, तो उसे बाहर निकाल दिया जाता है।

और प्रिन्सिपल, मैनेजमेंट के लोग ही गलत काम करें, तो क्या उन्हें निकाला जा सकता है?

पढ़ा था एक बार एक छात्र ने परीक्षा-भवन में टीचर के हटकने पर चाकू निकाल लिया था। प्रिन्सिपल मैनेजमेंट के लोगों को ईश्वरचन्द्र या विवेकानन्द—जैसा कोई हटके तो ये भी ऐसे ही चाकू निकाल लेते हैं।

मुझे लगता है आज मुझ-जैसा अध्यापक ही हतबल नहीं है, सारे जाग्रत और विवेकशील लोग भी हतबल हैं—अखबार के, न्याय के, धर्म के, बाजार के, कला-साहित्य के। ये सभी परीक्षा-भवन के टीचर की भाँति देख रहे हैं कौन कैसा गलत काम कर रहा है। शिक्षा-क्षेत्र में ही नहीं सर्वत्र।

ये देख रहे हैं, पर कुछ कर नहीं रहे हैं; नहीं कर पा रहे हैं, इसलिए कि गलत काम वालों ने अपनी मेज पर चाकू गड़ाकर खड़ा किया हुआ है। अपनी जाति, वंश, पद, प्रभाव का चाकू। यह चमचमाता चाकू विवेकशील को ललकारता हुआ करता है, खबरदार! जरा भी तू-तड़ाक की तो! और इनके पीछे भीड़ की जोरी है, प्यादों की भीड़ की। आदमी और भीड़ के बीच की यह दुःस्थिति पता नहीं कब टूटेगी!

भारत

श्री अरविन्द*

श्री अरविन्द के समस्त लेखन में प्रारम्भ से अन्त तक भारत की उपस्थिति विद्यमान है। यहाँ उनके भारत-विषयक कुछ विचारों का संकलन है। प्रत्येक उद्धरण के साथ उसका प्रकाशन-वर्ष दिया गया है। क्रान्तिदर्शी ऋषि की यह वाणी आज भी प्रासांगिक है और दिशाबोधक भी।

—सुरेश चन्द्र त्यागी,

भारत माता धरती का एक टुकड़ा नहीं है, वह एक शक्ति है, एक देवी है क्योंकि सभी देशों की एक ऐसी ही देवी है जो उनके अलग अस्तित्व को बल प्रदान करती है और उनकी हस्ती बनाये रखती है। जिन लोगों को ये सत्ताएँ प्रभावित करती हैं। उनकी अपेक्षा ये यथार्थ—तथा और अधिक स्थायी रूप से यथार्थ होती हैं लेकिन इनका सम्बन्ध एक उच्चतर स्तर से है, वे कौस्मिक चेतना एवं सत्ता का अंश हैं और यहाँ पृथ्वी पर मानवीय चेतना को गढ़ती हैं जिस पर अपने प्रभाव का प्रयोग करती हैं। मनुष्य के लिए, जो केवल अपनी वैयक्तिक, राष्ट्रीय और जातीय चेतना को व्यस्त देखता है और यह नहीं समझता कि इसके ऊपर क्या क्रियाशील है एवं इसे ढाल रहा है, यह सोचना स्वाभाविक है कि सब कुछ उसी ने रचा है और उसके पीछे कॉस्मिक या महत्तर वस्तु नहीं है। (1946)

* * *

जबकि अन्य लोग अपने देश को जड़ पदार्थ के एक निष्क्रिय टुकड़े के रूप में देखते हैं—कुछ मैदान और खेत, जंगल और पर्वत और नदियाँ— मैं देश को, माँ की तरह मानता हूँ। मैं उसकी आराधना करता हूँ, माँ के रूप में उसकी पूजा करता हूँ। यदि कोई राक्षस माँ की छाती पर बैठकर उसका रक्त चूसने लगे तो पुत्र क्या करेगा? ...मैं जानता हूँ कि मुझमें इस पतित जाति को मुक्त कराने की शक्ति है। यह

*संकलनकर्ता एवं अनुवादक : सुरेश चन्द्र त्यागी, सम्पादक : अदिति, सहारनपुर; अदिति, चौबीसर्वी प्रस्तुति से साभार।

शारीरिक शक्ति नहीं है—मैं तलवार या बन्दूक लेकर लड़ने नहीं जा रहा। यह है ज्ञान की शक्ति। (1905)

* * *

एक राष्ट्र के इतिहास में ऐसे अवसर आते हैं जब परमात्मा उसके सामने एक ही कार्य, एक ही लक्ष्य रख देता है जिसके आगे अन्य सब कुछ, चाहे वह अपने आपमें कितना ही ऊँचा और भव्य क्यों न हो, त्याग देना पड़ता है। हमारी मातृभूमि के लिए वह समय अब आ गया है जब उसकी सेवा से बढ़कर और कुछ भी प्रिय नहीं है, जब बाकी सब कुछ उस लक्ष्य की ओर प्रवर्तित कर देना है। ...कार्य करो जिससे उन्नति हो, कष्ट सहो ताकि वह प्रसन्न हो। इस एक सलाह में सब कुछ समाया है। (1907)

यह महान् और प्राचीन राष्ट्र कभी मानवीय आलोक का स्रोत, मानव-सभ्यता का शिखर, साहस एवं मानवीयता का एक उदाहरण, सुशासन एवं व्यवस्थित समाज का आदर्श, सब धर्मों की जननी, समस्त प्रज्ञा एवं दर्शन का गुरु था। निकृष्ट सभ्यताओं और अधिक असभ्य जनों के हाथों इसने बहुत कष्ट झेला है। यह रात्रि के अन्धकार में ढूबा है और इसने बहुधा मृत्यु की कड़वाहट चखी है। इसका आत्मगौरव मिट्टी में रौंदा गया है और इसकी महिमा नष्ट हुई है। भुखमरी, तंगहाली और नैराश्य इस मनोहर धरा के, भव्य पर्वत श्रेणियों के प्राचीन सरिताओं के, इन नगरों के (जिनकी जीवन-गाथा पीछे इतिहास-पूर्व की रात्रि तक जाती है) के स्वामी बन गये हैं। लेकिन क्या तुम यह समझते हो कि इसलिए भगवान ने हमारा सर्वथा परित्याग कर दिया है और सदा-सर्वदा के लिए पश्चिम की सुविधा मात्र, उसके वाणिज्य के दास, उसके विलास एवं अहंकार के पोषक होने के लिए छोड़ दिया है? हम अब भी भगवान् के प्रिय जन हैं और हमारी सारी विपत्तियाँ दुःखभोग के अनुशासन के रूप में रही हैं क्योंकि हमारे महान लक्ष्य के लिए मात्र सम्पन्नता पर्याप्त नहीं थी, तंगहाली का भी अपना प्रशिक्षण था। सत्ता, उपकार और हर्ष के गौरव का आस्वादन पर्याप्त नहीं था, दुर्बलता, यन्त्रणा और अपमान की जानकारी भी आवश्यक थी; यह पर्याप्त नहीं था कि हम दयालु, मनीषी और परोपकारी राजा की ही भूमिका अदा करने में समर्थ हों, हमें व्यक्तिगत रूप से जाति-वहिष्कृत अछूत और दास की भावनाओं का भी अनुभव करना था। (1907)

* * *

हम राष्ट्र से कहते हैं : “यह ईश्वर की इच्छा है कि हम हम ही रहें, यूरोप न बनें। हमने अपनी सत्ता के सिद्धान्त की अपेक्षा दूसरे की सत्ता का अनुसरण करके जीवन को पुनः प्राप्त करना चाहिए है। हमें लौट चलना चाहिए और अपने भीतर ही जीवन एवं शक्ति के स्रोतों की खोज करनी चाहिए। हमें अपने अतीत को जानना चाहिए और अपने भविष्य के प्रयोजन हेतु इसे पुनः प्राप्त करना चाहिए। हमारा

कर्तव्य है सर्वप्रथम अपने-आपको पूर्णरूपेण समझना और हर चीज को भारत के शाश्वत जीवन एवं स्वभाव के अनुरूप ढालना।...”

हम उन व्यक्तियों से और विशेषतः युवाओं से कहते हैं जो भारत का, विश्व का, भगवान् का कार्य करने के लिए उठ खड़े हो रहे हैं : “यदि तुम अपने दिमागों को यूरोपीय विचारों के अधीन कर लोगे या जीवन को भौतिक दृष्टिकोण से देखोगे तो तुम इन आदर्शों की कद्र नहीं कर सकते, उनका पालन नहीं कर सकते। भौतिक दृष्टि से तुम कुछ नहीं हो, आध्यात्मिक दृष्टि से सब कुछ हो। केवल भारतीय ही है जो सब कुछ पर विश्वास कर सकता है, सब कुछ का सामना कर सकता है, सब कुछ को त्याग कर सकता है। इसलिए पहले भारतीय बनो। अपने पूर्वजों की विरासत को पुनः प्राप्त करो। आर्य चिन्तन, आर्य अनुशासन, आर्य चरित्र, आर्य जीवन को पुनः प्राप्त करो। अपने विचार और भावना में नहीं, अपने जीवन में उनको पुनः अर्जित करो। ...कठिनाई और असम्भावना तुम्हारे शब्दकोशों से लुप्त हो जायेंगे। क्योंकि आत्मा में ही अनन्त शक्ति होती है और तुम्हें अपना बाह्य साम्राज्य जीतने से पूर्व अपना साम्राज्य—आन्तरिक स्वराज—वापस जीतना चाहिए। ...समस्त शक्ति का स्रोत अपने भीतर पुनः प्राप्त करो और शेष सब कुछ तुम से जुड़ जायेगा—सामाजिक पुष्टि, बौद्धिक उत्कर्ष, राजनीतिक स्वतन्त्रता, मानवीय चिन्तन की प्रवीणता, विश्व का नेतृत्व।” (1909)

* * *

क्या हम भारतीयों में ज्ञान की कमी है? हमारा जन्म और पालन-पोषण ऐसे देश में हुआ है जहाँ मानव जाति के प्रारम्भ से ज्ञान का संचार एवं संवर्धन होता रहा है, हम अपने भीतर सहस्रों वर्षों की वंशागत उपलब्धियाँ वहन कर रहे हैं। ...लेकिन यह निर्जीव ज्ञान है, एक बोझ है जिसके तले हम दबे जा रहे हैं, एक विष है जो हमें नष्ट कर रहा है जबकि इसे हमारे पैरों को सहारा देने वाली लाठी और हमारे हाथों के हथियार की तरह होना चाहिए। सभी महत्वपूर्ण वस्तुओं का यह स्वभाव है कि जब उनका उपयोग नहीं किया जाता या दुरुपयोग किया जाता है तो ये अपने वाहक पर ही उलट पड़ती है और उसे नष्ट कर देती है...

क्या हममें प्रेम, उत्साह और भक्ति का स्वभाव है? ये सब तो भारतीय स्वभाव में गहरे विद्यमान हैं लेकिन शक्ति के न होने से हम पर स्वभाव को एकाग्र नहीं कर पाते, इसे नियन्त्रित नहीं रख सकते, इसे सुरक्षित भी नहीं रख सकते। भक्ति ऊपर उठती हुई लौ है, शक्ति ईंधन है। यदि ईंधन अपर्याप्त है तो आग कितनी देर टिकेगी?...

हम जितनी गहराई में देखेंगे, उतना ही अधिक निश्चयतापूर्वक यह जानेंगे कि एक चीज का अभाव है जिसे दूसरी चीजों से पहले प्राप्त करने का हमें प्रयास करना चाहिए और वह है शक्ति—शारीरिक शक्ति, मानसिक शक्ति, नैतिक शक्ति, लेकिन

चिन्तन-सृजन, वर्ष-12, अंक-4

सबसे ऊपर आध्यात्मिक शक्ति जो कि अन्य सब शक्तियों का एकमात्र अक्षय एवं अविनाशी स्रोत है। यदि हमारे पास शक्ति है तो सब कुछ सरलता एवं सहजता से हमें मिल जायेगा। शक्ति के अभाव में हम स्वप्न देखने वाले व्यक्तियों की तरह हैं जिनके हाथ तो हैं लेकिन कुछ पकड़ नहीं सकते, न प्रहार कर सकते हैं, जिनके पाँव तो हैं लेकिन दौड़ नहीं सकते।

यदि भारत को जीवित रहना है तो फिर से युवा बनाना होगा। ऊर्जा की द्रुतगामी एवं तरंगायित धाराएँ उसके भीतर प्रवाहित करनी होंगी, उसकी आत्मा को पुरातनकाल जैसी बनाना होगा—तरंग प्रवाह जैसी, विशाल, शक्तिशाली, इच्छानुसार शान्त अथवा उग्र, कर्म या शक्ति के महासागर जैसी।

हममें से बहुत लोग, जिनको अकर्मण्यता के अशुभ एवं निकट असुर ‘तमस’ ने सर्वथा पराजित कर दिया है, आजकल कह रहे हैं कि यह असम्भव है। वे कहते हैं कि भारत क्षीण, निर्जीव एवं निस्तेज हो गया है और इतना अधिक दुर्बल हो चुका है कि कभी स्वस्थ नहीं हो सकता, अब भारत जाति की नियति है विलुप्त हो जाना। यह मूखर्तापूर्ण एवं निर्ग्रहक कथन है। किसी भी व्यक्ति या राष्ट्र को, यदि वह स्वयं ही न होना चाहे, दुर्बल होने की जरूरत नहीं है और किसी भी व्यक्ति या राष्ट्र को, यदि वह जान-बूझकर स्वयं ही विलुप्त न होना चाहे, विलुप्त होने की आवश्यकता नहीं है।

क्योंकि राष्ट्र है क्या? हमारी मातृभूमि क्या है? यह न तो एक भूखंड मात्र है और न मात्र एक लाक्षणिक कथन, न मन की कोरी कल्पना। यह महान् ‘शक्ति’ है जो उन करोड़ों इकाइयों की शक्ति से संघटित है जो राष्ट्र का निर्माण करती हैं—ठीक वैसे ही जैसे करोड़ों देवों की शक्ति एक शक्ति में एकत्र हुई थी और एक इकाई के रूप में पुंजीगत हो गई थी तथा ‘भवानी महिषासुर मर्दिनी’ के रूप में प्रकट हुई थी। वह शक्ति जिसे हम ‘भारत’—भवानी भारती—कहते हैं, तीस करोड़ लोगों की शक्ति की जीवन्त इकाई है लेकिन वह अकर्मण्य हो गई है, तमस के, अपने पुत्रों की आत्मासक्त जड़ता और अज्ञान के इन्द्रजाल में कैद हो गई है।....

हमें शक्ति का सृजन वहाँ करना है, जहाँ पहले इसका अस्तित्व नहीं था, हमें अपने स्वभावों को बदलना है और नूतन हृदयों वाले नवीन मानव बनना है, हमें फिर से जन्म लेना है।... हमें ऐसे मानव-केन्द्रों की अपेक्षा है जिनमें उच्चतम सीमा तक शक्ति का विकास हो, जिनमें यह शक्ति व्यक्तिगत के हर कोने में भर जाये और धरती को उर्वर बनाने के लिए उमड़ पड़े। अपने हृदयों और मस्तिष्कों में भवानी की ज्याला को धारण कर ये लोग आगे बढ़ेंगे और हमारे देश के हर कोने में इस अग्निशिखा को ले जायेंगे। (1904)

*

*

*

युगों पुराना भारत मृत नहीं है और न ही उसने अपनी चरम सृजनात्मक वाणी का उच्चार किया है; भारत जीवित है और अभी भी उसे अपने लिए और मानव-जाति के लिए बहुत कुछ करना है। और जिसे अब जाग्रत होने का प्रयास करना चाहिए, वह अंग्रेजियत अपनाने वाली पूर्व की जनता, पश्चिम के आज्ञापरायण शिष्य नहीं, पाश्चात्य सफलता-असफलता के चक्र को दोहराने के लिए नियति से बँधे जन नहीं बल्कि जागना चाहिए उस पुरातन अविस्मरणीय शक्ति को जो अपने गहनतर स्वरूप को पुनः प्राप्त करे, प्रकाश और शक्ति के परम स्रोत को और सिर को और ऊँचे उठाये और अपने ‘धर्म’ के सम्पूर्ण अर्थ एवं व्यापक स्वरूप की खोज में लग जाये। (1921)

*

*

*

भविष्य युवाओं का है। एक युवा एवं नवीन विश्व विकास की प्रक्रिया से गुजर रहा है और इसका निर्माण युवा ही करेंगे। लेकिन जिस विश्व का हम निर्माण करना चाहते हैं, वह सत्य, साहस, न्याय, उच्च अभिप्ता एवं सच्चे परितोष का विश्व भी है। इस आन्दोलन के भविष्य में कायर, स्वार्थी और बकवादी के लिए कोई स्थान नहीं है जो प्रारम्भ में तो आगे बढ़ता है और बाद में अपने साधियों को दुविधा में छोड़ देता है। साहसी, निष्कपट, स्वच्छ-हृदय, शूरवीर और महत्वाकांक्षी युवा ही वह नींव है जिस पर भावी राष्ट्र का निर्माण किया जा सकता है। ...भगवान् अपने कार्य के लिए लड़खड़ाने और विचलित होने वालों को नहीं चाहता और न वह उन अस्थिर उत्साह वालों को चाहता है जो अपनी प्रथम गतिविधियों की ऊर्जा को कायम नहीं रख सकते। (1909)

*

*

*

हम भारत के युवाओं का आह्वान करते हैं। युवा ही हैं। जो नूतन विश्व का निर्माण करेंगे— वे नहीं जो पश्चिम के प्रतियोगी व्यक्तिवाद, पूँजीवाद या भौतिकवादी साम्यवाद को भारत का भावी आदर्श स्वीकार करते हैं, वे नहीं जो पुराने आर्थिक नियमों के दास हैं और आत्मा के द्वारा जीवन की स्वीकृति और रूपान्तरण में विश्वास नहीं कर सकते बल्कि उन सबका आह्वान है जो महत्तर आदर्श हेतु परिश्रम करने के लिए मन और हृदय में स्वतन्त्र हैं। ...आत्मा में आत्मविश्वासपूर्ण आस्था हमें प्रेरणा प्रदान करती है कि हम उस नयी मानवता के ध्वजावाहकों में अपना स्थान लें जो, विघ्नशील विश्व की अव्यवस्था के बीच जन्म लेने के लिए संघर्षरत हैं और पुनर्जीवित हो रहे भावी भारत, महत्तर भारत के नेता बनें जो पुरातन ‘माता’ के विशाल जीर्ण शरीर का कायाकल्प करेंगे। (1920)

*

*

*

भारत सचमुच जाग रहा है और अपनी रक्षा कर रहा है, लेकिन यथेष्ट मात्र में और एकनिष्ठापूर्वक नहीं, स्पष्ट दृष्टि और दृढ़ संकल्प के साथ नहीं— केवल ये ही

हैं जो संकट से भारत की रक्षा कर सकते हैं। इस समय यह संकट सन्निकट है; भारत को चुनाव कर लेना चाहिए क्योंकि चुनाव अनिवार्य रूप से उसके समाने हैं—जीवित बने रहना या नष्ट हो जाना। ...

राजनीतिक यूरोपीयकरण के बाद इसी तरह का सामाजिक मोड़ आयेगा और अपने इसी अनुक्रम में सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मृत्यु ले जायेगा। ... या तो भारत का इतना वैज्ञानिक पुनर्गठन और औद्योगिकरण कर दिया जायेगा कि उसकी अपनी सारी पहचान ही मिट जायेगी और वह भारत ही नहीं रह जाएगा या फिर वह एक नये विश्व-स्थिति का नेतृत्व करेगा, अपने उदाहरण एवं विश्व की नई प्रवृत्तियों में सांस्कृतिक धूसपैठ से इसमें मदद मिलेगी और भारत मानव-जाति का आध्यात्मीकरण करेगा। यही मूलभूत एवं मार्मिक प्रश्न है जो विचारणीय है। भारत जिसका प्रतिनिधित्व करता है, उस आध्यात्मिक प्रयोजन के लिए क्या यूरोप राजी हो जायेगा और कहाँ पश्चिम के अनुकूल नवीन ढाँचों का निर्माण करेगा या यूरोपीय बुद्धिवाद एवं वाणिज्यवाद सदा के लिए भारतीय संस्कृति जैसी संस्कृति को समाप्त कर देगा? (1918)

* * *

यूरोप अपने विज्ञान और उसके चमत्कारों की डींग मारता है लेकिन एक भारतीय, वाल्टेर की तरह, यह सर्वोपरि प्रश्न पूछकर स्वयं को सन्तुष्ट नहीं कर सकता—‘तुमने क्या आविष्कार किया है?’ उसकी दृष्टि आत्मा पर है, उसी के बारे में पूछने का वह आदी है। यूरोप की आत्मशलाधी बुद्धि को वह यही उत्तर देने को बाध्य है—‘मेरी इसमें कोई रुचि नहीं है कि तुम क्या जानते हो? मेरी रुचि इसमें है कि तुम क्या हो गये हो? तुम्हारा समस्त ज्ञानोदय महान् है लेकिन वे विचित्र प्राणी क्या हैं जो तुम्हारे द्वारा लगाये गये विद्युत के प्रकाश में धूमते हैं और समझते हैं कि वे मानव हैं?’ यदि मानवात्मा क्षीण हो जाये तो बहुत प्रखर एवं कुशाग्र होना मानव-बुद्धि के लिए क्या एक महान् उपलब्धि होगी? (1910)

* * *

आध्यात्मिक महानता के विजयी भाव के द्वारा भारत को एक बार उसकी महानता के प्रति सचेतन बनाया जा सकता है। महानता का यह बोध समस्त देशभक्ति का प्रमुख पोषक है। केवल यही सारे आत्म-अवमूल्यन का अन्त कर सकता है और खोई हुई जीवन को पुनः प्राप्त करने की ज्वलन्त इच्छा उत्पन्न कर सकता है। (1907)

* * *

केवल वही जाति स्वस्थ स्थिति में और असन्दर्भ स्थायित्व वाली होती है जो अपने जीवन के ग्रामीण मूल की पुष्टता को शहरी चमक-दमक रूपी पत्तों से और फूलों

के लिए बलिदान नहीं कर देती।अब हमें इस दिशा में उस कार्यक्षेत्र की ओर मुड़ना होगा जिसकी हमने सर्वाधिक उपेक्षा की है—कृषि का क्षेत्र। जीवन की ओर लौटना हमारे उद्धार के लिए उतना ही अनिवार्य है जितना स्वदेशी का विकास या अकाल के विरुद्ध संघर्ष। यदि हम अपने युवाओं को खेतों की ओर वापस जाने का प्रशिक्षण दें तो वे ग्रामीण आबादी के लिए परामर्शदाता, नेता और आदर्श बनने में समर्थ होंगे। ...यह समस्या अपने तुरन्त हल के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है और केवल ग्राम सभाओं का संगठन आंशिक रूप से ही प्रभावी होगा, यदि यह ऐसी शिक्षा-व्यवस्था द्वारा समर्थित न हो जो शिक्षित हिन्दू को स्वयं किसान के रूप में जीवन की ओर न ले जाये और जाति के कृषक वर्ग के नेता के रूप में वापस न लौटाये। (1908)

* * *

पर्टियों और कार्यक्रमों की दुर्व्यवस्था में पुरानी राजनीति भारत में बनी हुई।

लोग जीवन के उस आध्यात्मिक आधार की कुछ भी परवाह नहीं करते जो भारत का सच्चा मिशन है और उसकी महानता का एकमात्र सम्भव स्रोत है। या वे इसे अत्यल्प, गौण या प्रासादिक महत्व देते हैं—ऐसी वस्तु जिसे भावना के रूप में या रंगने वाले द्रव्य के रूप में थोड़ा-सा लगाए रखना है। हमारा सारा सिद्धान्त ही भिन्न है। (1920)

* * *

मैं मानता हूँ कि भारत की दुर्बलता का प्रमुख कारण उसकी पराधीनता नहीं है, न गरीबी है, न आध्यात्मिकता या धर्म की कमी बल्कि कारण है विचार-शक्ति का हास, ज्ञान की मातृभूमि में अज्ञान का विस्तार, सर्वत्र ही मैं विचार करने की अयोग्यता या अनिच्छा—चिन्तन की क्षमता या ‘विचार-भीति’ देखता हूँ। मध्ययुग में चाहे जो भी रहा हो, इस समय यह प्रवृत्ति महापतन का लक्षण है। मध्ययुग रात्रिकाल था। अज्ञानी जन की विजय का समय; आधुनिक विश्व ज्ञानी आदमी की विजय का समय है। जो अधिक विचार कर, अधिक खोज कर, अधिक परिश्रम कर विश्व के सत्य की थाह ले सकता है और सीख सकता है, वही अधिक ‘शक्ति’ प्राप्त करेगा।...

हम अपने पूर्वजों के आभारी हैं कि हमारे पास आध्यात्मिक समझ है और जिसके पास यह समझ है, उसकी पहुँच में ऐसा ‘ज्ञान’, ऐसी ‘शक्ति’ है कि वह एक साँस में यूरोप की सारी विशाल शक्ति को तिनके की तरह उड़ा सकता है, लेकिन उस ‘शक्ति’ को पाने के लिए शक्ति की आवश्यकता है।... हमारी सभ्यता अस्थि पंजर हो गई है, हमारा धर्म कर्मकांडों का मताग्रह, हमारी आध्यात्मिकता प्रकाश की एक फीकी टिमटिमाहट या उन्माद की एक क्षणिक तरंग बन गई है। जब तक यह स्थिति बनी रहती है, तब तक भारत का स्थायी पुनरुत्थान असम्भव है। (1920)

* * *

यह कहा गया है कि लोकतन्त्र मनुष्य के अधिकारों पर आधारित है; इसका उत्तर यह दिया गया है कि इसे मनुष्य के कर्तव्यों पर आधारित होना चाहिए; लेकिन अधिकार और कर्तव्य—ये दोनों ही यूरोपीय विचार हैं। भारतीय अवधारणा ‘धर्म’ की है जिसमें अधिकार और कर्तव्य उस कृत्रिम विरोध को छोड़ देते हैं जो संसार के प्रति उस दृष्टिकोण की उपज है जो स्वार्थपरता को कर्म का मूल बताता है। ‘धर्म’ में अधिकार और कर्तव्य अपनी गहरी और नित्य एकता को पुनः प्राप्त कर लेते हैं। ‘धर्म’ लोकतन्त्र का आधार है—यह एशिया को समझ लेना चाहिए, क्योंकि इसी में एशिया एवं यूरोप की आत्मा की भिन्नता निहित है। (1908)

* * *

यदि भारत की जीवित रहना है और विश्व में अपना निर्धारित कार्य करना है तो हमारी प्रथम आवश्यकता है कि भारत का युवा विचार करना सीखे—सभी विषयों पर विचार करना, स्वतन्त्र रूप से, लाभप्रद ढंग से, वस्तुओं की सतह पर न रुकते हुए उनके मर्म तक जाकर विचार करना, पूर्व निर्णयों से मुक्त होना, तेज तलवार से कुतर्क एवं पूर्वाग्रह को खंड-खंड करते हुए हर प्रकार के रुद्धिवाद को मानो भीम की गदा के प्रहर से चूर-चूर करते हुए...

केवल भारत में ही ऐसी स्वतः पूर्ण प्रसुप्त ऊर्जा और अपराजेय आध्यात्मिक विशिष्टता है जो अब भी उठ खड़ी हो सकती है और अपनी तथा विश्व की बेड़ियाँ काट सकती है। (1910)

* * *

नेतागण केवल तभी सम्मान के पात्र हो सकते हैं, जब वे अपने देश के प्रमुख सेवक के रूप में कार्य करें, मालिक और तानाशाह की भावना से नहीं। (1906)

* * *

आधुनिक राजनीति के वातावरण में है अविश्वास; परस्पर सन्देह और घृणा इसके कार्य-व्यापार का गुप्त स्रोत है।... यदि भारत यूरोप के पदचिह्नों पर चलता है, यूरोप के राजनीतिक आदर्शों, समाज-व्यवस्था, आर्थिक-सिद्धान्तों को स्वीकार करता है तो वह भी यूरोप जैसी व्याधियों से पराजित हो जायेगा। ऐसी परिपूर्ति न तो भारत की हित में है और न यूरोप के हित में। यदि भारत यूरोप का एक बौद्धिक प्रदेश बन जायेगा तो वह अपनी स्वाभाविक महानता कभी प्राप्त नहीं कर सकेगा और न ही अपने भीतर विद्यमान सम्भावनाओं को पूरा कर पायेगा। ‘परधर्मः भयावहः’—दूसरे का धर्म स्वीकार करना संकटपूर्ण होता है; यह व्यक्ति या राष्ट्र को उसके जीवन और तेज से वंचित कर देता है और ‘प्रकृति’ के स्वतन्त्र, विशाल एवं सहज विकास के स्थान पर अप्राकृतिक और रुद्ध विकास को प्रतिस्थापित करता है। जब भी किसी राष्ट्र ने अपने अस्तित्व के उद्देश्य का त्याग किया है तो यह किया है विकास की कीमत पर। यदि भारत को अपनी नियति के अनुकूल होना है तो उसे भारत ही रहना होगा। भारत

में अपनी सभ्यता को आरोपित करके न ही यूरोप का लाभ होगा क्योंकि यदि भारत, जो कि यूरोप की व्याधियों का विशिष्ट चिकित्सक है, स्वयं ही व्याधि के शिकंजे में फँस जायेगा तो रोग का इलाज नहीं होगा और वह असाध्य बना रहेगा और यूरोपीय सभ्यता वैसे ही नष्ट हो जायेगी जैसे रोम के पतन पर हुई थी—पहले अपने भीतर के क्षय द्वारा और अन्त में बाह्य आक्रमण के द्वारा। (1908)

* * *

नैतिक और धार्मिक पाठ्य-पुस्तकों पढ़ाकर बालकों को नैतिक और धार्मिक बनाने का प्रयास आडम्बर और भ्रम है—ठीक इसलिए कि हृदय मन नहीं है और मन को हिदायत देने से यह आवश्यक नहीं कि हृदय उन्नत हो जायेगा।... नैतिक पाठ्य-पुस्तकों से खतरा यह है कि वे उच्च विषयों के चिन्तन को यान्त्रिक एवं कृत्रिम बना देती है और जो यान्त्रिक एवं कृत्रिम है, वह सदा के लिए निष्क्रिय हो जाता है।

इन पुस्तकों में छोटे विद्यार्थी के लिए अतीत के उच्च उदाहरण दिये जाने चाहिए—नैतिक पाठों के रूप में नहीं अपितु मानवीय रुचि को सर्वोत्तम वस्तु के रूप में, और बड़े विद्यार्थियों के लिए महान् आत्माओं के महान् विचार, साहित्य के ऐसे उद्धरण जो उच्चतम भावनाओं को प्रदीप्त करने वाले हों और जो उच्चतम आदर्शों और अभीप्साओं को प्रोत्साहित करें, इतिहास और जीवन चरित के ऐसे अभिलेख जो उन महान् विचारों, उदात्त भावनाओं और उच्चाकांक्षी आदर्शों को जीवन में उतारने का उदाहरण प्रस्तुत करें। (1910)

* * *

जनता की बढ़ती हुई गरीबी असंख्य पैम्पलेटों, भाषणों और अखबारों के लेखों का विषय रही है लेकिन यह सिद्ध करके कि गरीबी की समस्या विद्यमान है, हम यह समझ लेते हैं कि हमारा कर्तव्य पूरा हो गया। गरीबी की समस्या के हल को हम भविष्य के लिए छोड़ देते हैं और भूल जाते हैं कि इसका हल होने तक जनता पतन के गर्त में गिर चुकी होगी जहाँ से उबरने में राष्ट्र को अनेक दशक लग जायेंगे। हम इस गरीबी के केवल आर्थिक पक्ष पर ही विचार करने के आदी रहे हैं लेकिन इसका नैतिक पहलू भी है जो और अधिक महत्वपूर्ण है। यूरोप की कम सभ्य जनता से भारतीय कृषक-वर्ग की अपनी अलग विशिष्टता रही है—अपनी उच्च धर्मपरायणता, सौम्यता, गम्भीरता, शुचिता, मितव्ययिता, सहज बुद्धिमत्ता के कारण। अब उनको असाधारण पाश्विकता की ओर ले जाया जा रहा है। वे शराब की दुकानों की ओर आकर्षित हो रहे हैं। जिसे परोपकारी सरकार उदारतापूर्वक उपलब्ध करा रही है। उत्तरोत्तर बढ़ रहे अनैतिक अभिजात वर्ग के उदाहरण से और धीरे-धीरे स्वच्छन्दता एवं पाश्विकता की उन्हीं आदतों से प्रेरित हो रहे हैं जिनसे यूरोप के श्रमजीवी कलंकित हुए हैं। यह पतन भयावह त्रिवतापूर्वक हो रहा है।...

यदि बुराई के इस ज्वर को रोकने के लिए कुछ न किया गया तो यह अपने गँदले बहाव में भारत की आत्मा को बहा ले जायेगा और मानवीय स्वभाव में जो निकृष्टतम है, उस सबकी भद्री विरूपता छोड़ जायेगा। (1908)

*

*

*

राष्ट्रवाद अपनी सफलता के लिए राष्ट्र की समग्र शक्ति को जगाने और उसे संगठित करने पर निर्भर करता है। इसलिए राष्ट्रवाद के लिए यह अत्यधिक महत्वपूर्ण है कि राजनीतिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों को जगाया जाये और राजनीतिक जीवन की धारा में ले आया जाये; रुढ़िवादी हिन्दू धर्मावलम्बियों का विशाल समूह...इस्लाम का बड़ा निद्रामग्न जनसमूह...दूकानदार, कारीगर वर्ग, अनपढ़ एवं अनभिज्ञ किसान-वर्ग का विशाल समूह, दलित वर्ग, अन्य जातियाँ-प्रजातियाँ भी जो अभी तक हिंदू सभ्यता के दायरे से बाहर हैं—राष्ट्रवाद इनमें से किसी की उपेक्षा नहीं कर सकता, न ही किसी को छोड़ सकता है...

राष्ट्रवाद की सबसे पहली और सबसे बढ़कर माँग है जीवन की माँग; उसकी पुकार है जीवन —और अधिक जीवन। हमको हर तरह से मृत्यु के उस आवरण से छुटकारा पाना चाहिए जिसने हमारा दम घोट रखा है। सबसे पहले हमें उस अकर्मण्यता, निष्क्रियता और जड़ता के अकथनीय दबाव को दूर करना चाहिए जो इतने लम्बे समय से हमारे लिए अभिशाप रहा है, यह है हमारी पहली और अनिवार्य आवश्यकता। (1907)

*

*

*

राष्ट्रीय शिक्षा को एक या दो वाक्यों में संक्षिप्त रूप से परिभाषित नहीं किया जा सकता लेकिन सुझाव के रूप में हम इसे ऐसी शिक्षा कह सकते हैं जो अतीत से प्रारंभ करते हुए और वर्तमान का पूरा उपयोग करते हुए एक महान् राष्ट्र का निर्माण करती है। जो कोई राष्ट्र को उसके अतीत से काट देना चाहता है, वह हमारे राष्ट्रीय विकास का शुभचिन्तक नहीं है। वह जीवन के युद्ध में हमें पराजित करना चाहता है। इसलिए हमें भारत के लिए वह ज्ञान, चरित्र और उदात्त चिन्तन सुरक्षित रखना है जो उसने अतिप्राचीन अतीत से संचित रखा है। हमें भारत के लिए वह सर्वोत्तम ज्ञान, जो यूरोप दे सकता है, अर्जित करना चाहिए और उसको अपने विशिष्ट प्रकार के राष्ट्रीय स्वभाव के अनुसार अपनाना चाहिए। मानव जाति ने शिक्षण की जो सर्वोत्तम पद्धतियाँ, चाहे आधुनिक हों या प्राचीन विकसित की हैं, उनको सन्निविष्ट करना चाहिए। और इन सभी को ऐसी पद्धति में समन्वित करना चाहिए जो स्वावलम्बन की भावना से अनुप्राणित हो जिससे मनुष्यों का निर्माण हो, मशीनों का नहीं... (1908)

*

*

*

हमें अपने बालकों के मन को उनके बचपन से ही देश की भावना से भरना होगा और हर मोड़ पर यह भावना उनके सामने प्रस्तुत करनी होगी तथा उनके समस्त

युवा जीवन को उन सद्गुणों की साधना का पाठ पढ़ाना होगा जो बाद में उन्हें देशभक्त और नागरिक बना सकें। यदि हम यह प्रयास नहीं करते तो बेहतर होगा कि भारत राष्ट्र का निर्माण करने की अपनी इच्छा का पूर्णतया त्याग कर दें, क्योंकि ऐसे अनुशासन के बिना राष्ट्रवाद, देशभक्ति, पुनरुद्धार—ये सब शब्द और विचार मात्र हैं जो कभी राष्ट्र की आत्मा का अंश नहीं बन सकते और इसलिए एक महान साकार सत्य का रूप नहीं ले सकते। देशभक्ति की मात्र सैद्धान्तिक शिक्षा किसी काम की नहीं। (1907)

*

*

*

यह अच्छा होगा कि प्रत्येक भारतीय अपने विदेशी वातावरण से मोम पर ली जानेवाली छाप लेने की बजाय जहाँ भी जायें अपने साथ भारत को भी ले जाने में समर्थ हों। क्योंकि उसका अर्थ होगा कि सारे संसार पर विजय पाना और अपनी छाप लगाना भारत की नियति है। (1910)

*

*

*

भारत राष्ट्रों का गुरु है, गम्भीरतर व्याधियों में मानवात्मा का चिकित्सक; उसकी नियति है एक बार पुनः विश्व के जीवन को नये साँचे में ढालना और मानवीय आत्मा की शान्ति को पुनः प्रतिष्ठित करना। (1908)

कामायनी-दर्शन

सम्पूर्णानन्द

‘कामायनी’ ऋग्वेदोक्त मनु और श्रद्धा की कथा है जिसको ‘प्रसाद’ जी ने हिन्दी जगत् को भेट किया है। एक कवि को अनुभूति, जो कभी वैदिक भाषा में व्यक्त हुई थी, दूसरे कवि के द्वारा सहस्रों वर्ष बाद हिन्दी में अवतरित की गई है। भले ही वेद अपौरुषेय हो, ईश्वर का प्रश्वास हो, पर ईश्वर भी तो कवि है। स्वयं श्रुति उसको ‘कविम् पुराणम् अनुशासितारम्’ कहकर लक्षित करती है।

कलाकार की रचना को कृति कहने का दस्तूर है। कृति अनुपयुक्त शब्द है। एक मिस्त्री जिस कुर्सी या मेज को तैयार करता है उसको भी कृति कह सकते हैं। परन्तु इस प्रकार की कृति में और एक अच्छे गायक की उठायी हुई रागिनी या एक महाकवि की रचना-रूपी कृति में आकाश-पाताल का अन्तर है। कृति फोटो को भी कह सकते हैं और अजन्ता या सारनाथ में मिली हुई बुद्ध की मूर्तियों को भी। परन्तु दोनों को एक कोटि में खनन कला शब्द की निर्मम हत्या के समान होगा। सच्चे कलाकार की रचना के उद्गम का स्रोत इस दृश्यमान जगत् से बहुत दूर होता है। उसकी पीछिका कलाकार के मस्तिष्क से बहुत ऊपर होती है। जिस जगत् में सच्चा कलाकार रहता है वह उस जगत् में ओतप्रोत है और इसके बाहर भी है। ऐसे कलाकार की रचना को कल्पना शब्द से भी व्यक्त करना बहुत ठीक नहीं ज़ंचता। चार सूँड़ का हाथी कहीं देखा नहीं गया है, परन्तु थोड़ा-सा प्रयत्न करने से चित्त में चार सूँड़ों वाले हाथी का चित्र बैठाया जा सकता है। पद्य में, गद्य में, पत्थर और धातु में, उसको अवतरित किया जा सकता है। इसको कल्पना कहते हैं। अच्छे कलाकार की रचना ऐसी नहीं होती। रामलीला के अवसर पर दस मुँह और बीस हाथ वाला रावण सामने आता है। वाराणसी में खरदूषण युद्ध के दिन, जिसको साधारण बोल-चाल में ‘नक्कटैया’ कहते हैं, दुर्गा और काली के रूप देखने में आते हैं। यह सब कल्पना है। परन्तु शंकराचार्यकृत ‘सौन्दर्य-लहरी’ में देवी के स्वरूप का वर्णन पढ़िये। उसमें भी एक स्त्री विग्रह के नखशिख का चित्रण है। पढ़ने के साथ ही प्रतीत होगा कि इस सारे वर्णन में जिन शब्दों का व्यवहार किया गया है उनका ध्वनितार्थ तथा व्यांग्यार्थ कुछ

और ही है, जो कल्पना का विषय नहीं है। इसी सन्दर्भ में मैंने अनुभूति शब्द का प्रयोग किया है।

जगत् की सत्ता

इस जगत् का जो प्रतीयमान रूप है वह इसका यथार्थ रूप है, ऐसा कोई समझदार नहीं कह सकता। विज्ञान के अनुसार जगत् की मूल सामग्री, वह ईंटें जिनसे इस भवन का निर्माण हुआ है, विभिन्न तत्वों के परमाणु हैं। परमाणु सब-के-सब गतिशील हैं और परमाणु के बीच में शून्य, रिक्त स्थान है। यह हमारे ठोस जगत् की दृढ़ता है। कुछ लहरियाँ हैं जो हमारे अक्षिपटल से टकाकर रंगों का परिचय करती हैं और गम्भीर दृष्टि से विचार करके वैज्ञानिक कहता है कि जगत् सम्भावनाओं की लहरियों (Waves of probability) के सिवाय और कुछ नहीं हैं और इससे भी आगे बढ़कर एक विद्वान का कहना है कि ऐसा प्रतीत होता है कि यह जगत् किसी महागणितज्ञ के चित्त में उठा हुआ विचार है। कहने का तात्पर्य यह है कि दार्शनिकों की बात को तो जाने दीजिये, विज्ञान भी ऐसा मानता है कि इस जगत् की सत्ता उसके इस बाहरी दृश्यमान् रूप से भिन्न है। इस अवसर पर स्वभावतः ही यह प्रश्न उठता है कि वह सत्ता क्या है? कैसी है? यह निश्चय है कि वह इस जगत् में सर्वत्र व्याप्त है और इसके प्रतीयमान रूप के बाहर भी है जैसा कि श्रुति ने कहा है ‘स भूमिम् सर्वतः स्पृत्वा, अत्यतिष्ठत् दशांगुलम्’। वह इस विश्व को हर जगह स्पर्श करता है और इस दशांगुल अर्थात् दस दिशाओं वाले विश्व के बाहर भी है। उस सत्य का यथार्थ वर्णन नहीं हो सकता। वाणी को भी उसी से प्रकाश मिलता है। अंश की यह शक्ति नहीं है कि अंशी का वर्णन कर सके। सोने के हजारों विकार होते हैं। इनमें से किसी एक विकार, जैसे अँगूठी में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह सोने के सम्पूर्ण स्वरूप और सारी महत्ता को बता सके। इसीलिए श्रुति उसको नेति—यह नहीं—कहती है।

परन्तु सम्पूर्ण विवरण न सही, कुछ-न-कुछ तो जाना, समझा और कहा जा ही सकता है। इसकी पहली सीढ़ी तो वैज्ञानिक विचार है। मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान, गणित, मुख्यतः जगत् के स्वरूप का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन करते हैं। उनके सामने जो निष्कर्ष आते हैं उनकी समीक्षा और तत्परम् उनका समन्वय दर्शन का विषय है आदि दार्शनिक कपिल और फिर उनके बाद प्लेटो, शंकराचार्य, कांट, हीगेल, शोपेनहार, बेग्सां तथा बौद्ध और जैन विचारकों ने अनेक दृष्टिविद्याओं से इस कार्य का सम्पादन किया है। दार्शनिक जिस उत्कर्ष पर पहुँचता है उसमें एक कमी होती है, जिसको ब्रह्म-सूत्र में इस रूप में कहा गया है : तर्काप्रतिष्ठानात्—तर्क अप्रतिष्ठित है। कोई भी विषय हो, उसके सम्बन्ध में किसी सिद्धान्त के स्थिर करने के लिए दो साधन, पारिभाषिक शब्दों में दो प्रमाण, काम देते हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। एक तीसरा प्रमाण और है जिसको आगम या शब्द कहते हैं। शब्द का अर्थ

है आप पुरुष का वाक्य, ऐसे पुरुष का कहना जो विषय को जानता हो, विषय को बतलाना चाहता हो और बतलाने की क्षमता रखता हो। मैं चीन नहीं गया परन्तु यदि कोई ऐसा व्यक्ति हो जो मेरी दृष्टि में आप हो और वह मुझसे कहे कि चीन में अमुक स्थान पर अमुक नाम का एक प्रासाद है तो मैं उसकी बात मान लूँगा। परन्तु आप किसको माना जाय, इस सम्बन्ध में घोर मतभेद हो सकता है। कपिल, व्यास, बुद्ध, महावीर, ईसा, मोहम्मद यह सब किसी-न-किसी की दृष्टि में आप और दूसरों की दृष्टि में अनन्त हैं। अतः सहारा प्रत्यक्ष और अनुमान का ही रह जाता है। दार्शनिकों की मुख्यतः इन्हीं दोनों साधनों से काम लेना पड़ता है। परन्तु इस प्रकार सर्वसम्मत निर्णय होना कठिन होता है। अनुमान का भी अन्तिम आधार प्रत्यक्ष है। अमुक पर्वत पर अग्नि है क्योंकि उस पर से धुआँ उठ रहा है, तर्क का यही रूप है और इस निगमन पर पहुँचने के लिए ‘हेतु’ दिया जाता है कि रसोई के चूल्हे में धुआँ उठता है और वहाँ आग दीख पड़ती है। ऐसे ही हलवाई या भड़भूजे की भट्टी में, अंगीठी में आग जलती हुई देखी गई है। यदि यह सब बातें मान ली जायें तो धुआँ देखकर पर्वत पर आग का होना सिद्ध हो जायेगा। परन्तु यदि कोई इस बात को न माने कि जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ आग होती है तो वह यह कह सकेगा कि अमुक स्थान पर धुआँ दीख पड़ता है पर वहाँ आग न होगी। यह भी कहना सम्भव है कि उस पहाड़ पर जो वस्तु दीख पड़ती है, वह धुआँ नहीं बल्कि कुहरा है, या इस प्रकार की कोई वस्तु है। तो फिर निर्णय कैसे हो? जहाँ प्रत्यक्ष सर्वसम्मत न हो या दो परस्पर विरोधी हेतु दिये जा सकते हों वहाँ अनुमान एक-सा नहीं हो सकता। किसी जगह नदी में बाढ़ आयी। हो सकता है कि जिधर से नदी आ रही है वहाँ वर्षा हुई हो या इंजीनियर ने नहर खोलकर नदी में पानी डाल दिया हो। ऐसी दशा में दो विचारकों का निर्णय एक-सा नहीं हो सकता। इसलिए कहा है कि तर्क अप्रतिष्ठित है। किसी समय बड़े-बड़े विद्वान् सोने को शुद्ध तेज मानते थे। आज विज्ञान का प्रथम कल्पिक छात्र भी ऐसी बात स्वीकार नहीं कर सकता।

तब फिर जगत् के मूलभूत स्वरूप का, पूरा नहीं तो आंशिक ही सही, ज्ञान कैसे प्राप्त हो? एक ही उपाय है—प्रत्यक्ष। पहाड़ पर आग है या नहीं, इसका अन्तिम और असन्दिग्ध निश्चय पहाड़ पर जाने से हो सकता है। इसी प्रकार जगत् की सत्ता का अनुभव प्रत्यक्ष के द्वारा ही हो सकता है। वह प्रत्यक्ष इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता। इन्द्रियाँ तो प्रतीयमान जगत् का प्रत्यक्ष करा सकती हैं, इसलिए उस साक्षात्कार को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं। वह प्रत्यक्ष उस अवस्था में होता है जिसको हमारे आचार्यों ने समाधि कहा है। समाधि की कई भूमिकाएँ हैं। जो चित्त आज इस दृश्य जगत् में विचरण कर रहा है, वह यकायक समाहित नहीं हो सकता। धीरे-धीरे ही प्रगति होगी। भूमिकाओं का अर्थ यही है। समाधि के दो मुख्य भेद हैं—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात।

असम्प्रज्ञात अन्तिम रूप है। सम्प्रज्ञात के भी पतंजलि ने चार भेद इस प्रकार बतलाये हैं—“वितर्क विचारानन्दस्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः” अर्थात् सम्प्रज्ञात की चार सीढ़ियाँ हैं : वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता। वितर्क और विचार के भी दो-दो भेद हैं: सवितर्क और निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार। जो मनुष्य समाधि के मार्ग पर चलता है उसको योगी कहते हैं। योगी को क्रमशः एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी पर चढ़ते हुए जगत् के रूपरूप का साक्षात्कार स्पष्ट रूप से होता जाता है।

समाधि-भाषा

यदि योगी अपना अनुभव दूसरों के पास तक पहुँचाना चाहे तो उसको बड़ी कठिनाई होती है। दूसरों के पास किसी ज्ञान को पहुँचाने का एक ही साधन है—भाषा। परन्तु भाषा तो मनुष्य के उन अनुभवों को व्यक्त करने के लिए बनी है जो उसको जाग्रत अवस्था में होते हैं। उनकी भी पूरी अभिव्यक्ति शब्दों के द्वारा नहीं हो सकती। किसी माता को अपने बच्चे के प्रति जो स्नेह होता है, पति और पत्नी में जो प्रणय का बन्धन होता है, किसी आर्त को देखकर हृदय में जिस दयाभाव का उद्रेक होता है, अनाचार की प्रतिक्रिया में जो क्रोध प्रज्वलित हो उठता है, उपास्य के स्मरण मात्र से भक्त जिस भावना से गदगद हो उठता है—इन सबको दूसरों तक ले जाने की क्षमता शब्दों में कहाँ? कुछ टूटे-फूटे शब्द, कुछ संकेत, कुछ हृदय की धड़कन और बस। फिर जो अनुभूति जाग्रत का विषय है ही नहीं, वहाँ पहुँचने के पहले ही भाषा के पर जल जाते हैं। ऐसी दशा में योगी जिस साधन से काम लेता है उसको समाधि भाषा कहते हैं। मैंने पहिले ‘सौन्दर्य लहरी’ की चर्चा किया है। उसमें देवी के स्वरूप का जो वर्णन है वह समाधि-भाषा का बड़ा सुन्दर उदाहरण है। जिन लोगों ने संस्कृत के ऐसे ग्रन्थ नहीं देखे हैं, उन्होंने कवीर की रचनाओं को देखा होगा। वह भी समाधि भाषा के निर्देशनों से भरपूर हैं। वैदिक, बौद्ध, सूफी साधकों की रचनाओं में यही बात मिलती है। यही बात पश्चिमी जगत् के सेंट थेरीसा, सेंट जान आफ दि क्रास, रोलो जैसे महात्माओं के वचनों में भरी पड़ी है। दार्शनिक ग्रन्थों में जहाँ विभिन्नता है, वही सन्तों की वाणियों में समता और एकता है—वैसी ही एकता जैसी कि कुर्सी या टेबुल या कलम के वर्णन में मिलती, वर्णन करने वाले चाहे किसी देश के रहने वाले हो, उनका चाहे कोई काल रहा हो। वस्तु एक, अनुभव एक, वर्णन एक, यदि कुछ थोड़ा-बहुत अन्तर दीख पड़ता है तो अलग-अलग भाषाओं के मुहाविरों के कारण।

कलाकार की अनुभूति

साधारणतः कलाकार योगी नहीं होता। वह योग की किसी साधना का अवलम्बन नहीं करता। परन्तु पूर्वजन्मों के संस्कार उसके चित्त को एक विशेष दिशा में झुकाते हैं।

हमारे प्राचीन शब्दों में उसको योगभृष्ट कहते हैं। वह ऐसा व्यक्ति है जो पिछले किसी जन्म में योग मार्ग का अनुसरण करने वाला रहा होगा, परन्तु किन्हीं कारणों से पर्याप्त दूरी तक नहीं जा सका। अस्तु, कोई पूर्वजन्म के सिद्धान्त को माने या न माने, यह तो मानना ही पड़ता है कि सच्चे कलाकार के चित्र की एक विशेष स्थिति होती है। वह दार्शनिक विवेचना करने नहीं बैठता, विज्ञान की बातों को कम ही जानता है। फिर भी जगत् के प्रतीयमान रूप के पीछे उसको किसी और ही सत्य की झलक देख पड़ती है।

वर्द्धसर्वथ ने साधारण मनुष्य के सम्बन्ध में कहा है :

*"A primrose by the river's brim,
A yellow primrose is to him,
And it is nothing more."*

सरोवर के बीच में कमल खिला है, कुछ चौड़े-चौड़े हरे-पत्ते हैं जिनका उपयोग शायद यही हो सकता है कि उनसे थाली का काम लिया जाये। बीच में एक फूल है जिसकी श्वेत या गुलाबी रंग पंखुड़ियाँ हैं और बस। यह चीज सबको दीख पड़ती है। फोटोग्राफर इसका सादा और रंगीन चित्र खींच सकता है, परन्तु कवि को उसके पीछे भी कुछ दीख पड़ता है। एक कुतिया अपने बच्चे को दूध पिला रही है। इसको सब देखते हैं, परन्तु किसी-किसी को उसके पीछे वह जगद्वात्री आद्याशक्ति दीख पड़ती है जो मातृरूप से सारे विश्व का पालन कर रही है। कवि को और दूसरे सच्चे कलाकार को उसी के दर्शन होते हैं। मोर नाचता है, नर्तकी नाचती है, परन्तु उनके नाच को देखते हुए किसी-किसी को उस नटराज की पदध्वनि सुनाई पड़ती है जिसके डमरू से शब्द-शास्त्र की सुष्ठि हुई थी, जिसके नृत्य के साथ इस जगत् का संकोच होता है, जिसके श्रमसीकरों से प्रतिक्षण अनन्त ब्रह्मांडों का सर्जन होता रहता है। वही व्यक्ति कलाकार है। मेरा ऐसा मत है कि पारिभाषिक शब्द में योगी न होते हुए भी सच्चा कलाकार वितर्क का अतिक्रमण करके विचार और आनन्द की भूमिकाओं के बीच पिंगे मारता रहता है। साधना के अभाव के कारण वह किसी एक जगह टिक नहीं सकता, परन्तु थोड़ी देर के लिए उसको सत्य की जो आभा दीख पड़ती है, जड़-चेतन के आवरण के पीछे अर्द्ध-नारीश्वर की जो झलक मिलती है, वह उसको इस जगत् के ऊपर उठा देती है, उसके जीवन को पवित्र और प्रकाशमय बना देती है।

ऐसे कलाकार के सामने भी वही कठिनाई है जो योगी के सामने होती है, अपनी अनुभूति दूसरों तक कैसे पहुँचाये? बिना पहुँचाये जी भी नहीं मानता। जब नशा चढ़ता है तो मुँह खुल ही जाता है। फारसी में एक सूफी ने कहा है— “मन नमीयोग्यम्

अनलह्वक् यार मी गोयद बगो”—मैं अहम् ब्रह्मास्मि’ नहीं कहता मेरा प्रियतम मुझको विवश करता है कि तू ऐसा कह।

यही दशा कलाकार की होती है। उसके ऊपर भी उसके माध्यम का बन्धन है। यदि वह मूर्तिकार है तब तो बन्धन बहुत ही स्थूल है। चित्रकार की तूलिका का मार्ग कुछ अधिक प्रशस्त है, फिर भी माध्यम स्थूल है। सब से ऊँची कला संगीत है। गायक शब्दों से नहीं, स्वरों से काम लेता है, जो बहुत ही उन्मुक्त हैं और सार्वभौम हैं। जहाँ तक कि गीत गाये जाते हैं वहाँ तक शुद्ध संगीत नहीं है, गाकर पढ़ी गई पद्य रचना है। मैं संगीत के विषय को नहीं छोड़ता हूँ। गायन से नीचे परन्तु और सब कलाओं से ऊपर, काव्य है। यों तो ‘वाक्यम् रसात्मकं काव्यम्’ के अनुसार गद्य और पद्य दोनों ही काव्य हो सकते हैं। शंकराचार्य का वेदान्त भाष्य देखिये। पन्ना पर पन्ना उलटते जाइये। काव्य का आनन्द आता है। फिर भी गद्य की अपेक्षा पद्य में कवि को सुविधा होती है। छन्द, माना पढ़ने के ढंग से श्वास-प्रश्वास की क्रिया आदि से भाव के उद्भोध में सहायता मिलती है। फिर भी शब्द का जो ध्वनितार्थ होता है वह प्रायः दूसरी भाषा में उसके पर्याय में नहीं मिलता। पतिपरायण स्त्रियाँ सर्वत्र होती हैं, परन्तु सहधर्मिणी का अर्थ किसी दूसरी भाषा में किस प्रकार व्यक्त किया जाये? दुर्गा-सप्तशती के साथ जो अर्गलास्तोत्र पढ़ा जाता है उसमें पन्ती के लिए जहाँ ‘मनोवृत्तानुसारिणी’ कहा गया है वहीं उसे ‘दुर्गा संसार सागरस्य तारिणी’ अपने तपोबल से पति को इस कठिन संसार सागर से पार कराने वाली—कहा गया है। यह अर्थ सहधर्मिणी शब्द में है परन्तु मेरी जानकारी में किसी दूसरी भाषा के शब्द में नहीं मिलता। अपनी भाषा में भी यह अपने ढंग का निराला ही शब्द है। फिर एक ही शब्द समय-समय पर अपने अर्थ को बदलता रहता है। एक तो भाषा यों ही दुर्बल माध्यम है, क्योंकि वह ऐसे अनुभवों को व्यक्त करने के लिए बनी नहीं जो दृश्य जगत् से भिन्न प्रकार के हों। यह सब कठिनाइयाँ हैं, इसलिए कवि को भी समाधि भाषा के समान ही उपाय से काम लेना पड़ता है। इसको रहस्यमयी भाषा या और जो कोई नाम उचित हो, दिया जा सकता है।

कामायनी की व्याख्या

यह सब अप्रासंगिक प्रतीत होता है, परन्तु मेरी सम्मति में बिना इन बातों को ध्यान में रखे वैदिक आख्यानों का ठीक-ठीक विवेचन नहीं हो सकता और न ‘कामायनी’ की ठीक-ठीक व्याख्या हो सकती है। मैं ‘प्रसाद’ जी को अनुवादक की दृष्टि से नहीं देखता। वह मेरा दुर्भाग्य है कि आधुनिक हिन्दी कवियों में बहुतों की रचना मैं समझ नहीं पाता और अपनी इस कमी के कारण उनमें से अधिकांश का रसास्वादन नहीं कर पाता। परन्तु कामायनी मेरे लिए भिन्न कोटि का ग्रन्थ है। उसमें मुझको स्वारस्य है

और वह इसलिए कि मेरी दृष्टि में वह एक काव्य की उस कसौटी पर उतरता है जिसकी मैंने चर्चा की है।

मनु प्रथम मनुष्य नहीं थे। प्रत्येक मन्वन्तर के आरम्भ में एक मनु होते हैं। इस प्रकार एक कल्प में 14 मन्वन्तर और 14 मनु होते हैं। आजकल श्वेत वाराह कल्प चल रहा है। मनुओं की कथा मार्कण्डेय पुराण में विस्तार से मिलती है। इनमें सार्वर्णि मनु की कथा तो दुर्गा पाठ के रूप में नवरात्र के दिनों में घर-घर पढ़ी जाती है। पता नहीं कितने व्यक्ति इसको समझने का यत्न करते हैं। जल-प्लावन हुआ। जगत् का बहुत-सा अंश नष्ट हो गया। प्राणी नष्ट हो गये। मत्स्य रूपी भगवान् की कृपा से मनु ऐसे स्थान पर पहुँचे जो सुरक्षित था। वहाँ पर उनका श्रद्धा से साक्षात्कार हुआ और फिर मनु और श्रद्धा ने मन्वन्तर की सुव्यवस्था की नींव डाली। वेद मन्त्रों की मीमांसा की अनेक शैलियाँ हैं, ऐतिह्य शैली के अनुसार यह ऐतिहासिक घटना हो सकती है। जल-प्लावन का होना तो एक प्राकृतिक घटना है। इसके बहुत प्रमाण मिलते हैं। यह भी हो सकता है, जैसा कि नैरुक्त शैली संकेत करती है कि यह किन्हीं प्राकृतिक दृग्यिषयों का वर्णन हो। बादल, पानी, सूर्य, प्रकाश, अन्धकार का ही रूपक बांधा गया हो। परन्तु तीसरे प्रकार से भी व्याख्या हो सकती है। मनु का अर्थ मन्त्र भी होता है और मनु और मन्त्र दोनों शब्द जिस धातु से निकले हैं उसका अर्थ होता है मनन करना। मैं शृंखलाबद्ध और पुष्ट व्याख्या करने का यत्न नहीं करना चाहता। परन्तु कुछ संकेत मात्र जरूर सामने रखता हूँ। जल के लिए बहुत्यवहत वैदिक शब्द है ‘अप’ और अप शब्द वेद में बहुत से स्थलों पर कर्म के लिए भी आता है। साधक अपना उन्नयन चाहता है। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावनाओं के द्वारा लोकहित करके वित्त का प्रसाद अर्जित करने का इच्छुक है। परन्तु उसको एक ही मार्ग का ज्ञान है। कर्म मार्ग का। व्यक्ति कर्म करता है, कर्म उसको स्वर्ग तक ले जा सकता है, परन्तु ‘क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकम् विशन्ति’। कर्म, कर्म का फल, कर्म के द्वारा एक लोक से दूसरे लोक तक धूमते रहना, यह एक विचित्र फन्दा है। उससे छुटकारा पाने का कोई मार्ग नहीं दीख पड़ता। कर्म अर्थात् अप अर्थात् जल का प्लावन हो गया। समुद्र की भाँति कर्म ने चारों ओर से धेर लिया है। जीवन इसमें डूबता-सा जा रहा है। इच्छाभियात और निराशा का शिकार हो रहा है। ऐसी अवस्था में उसको मत्स्य की सहायता मिलती है जो उसकी नाव को इस समुद्र के बाहर सुरक्षित स्थान तक पहुँचाता है। योग के ग्रन्थों में योग की क्रिया की मत्स्य की गति से उपमा दी गई है।

“उल्टा पवन चढ़ै जस मीना, है सदगुरु का मारग झीना”—यह उपमा इसलिए दी जाती है कि ऐसा माना जाता है कि मछली जल के प्रवाह के विरुद्ध चलकर ऊँचे गन्तव्य स्थान तक पहुँचती है। इसी प्रकार योग की क्रिया मनुष्य को जगत् के प्रवाह के विरुद्ध ऊपर को ले जाती है। निश्चय ही योग में लगना गुरु और ईश्वर की कृपा

का ही फल है। ईश्वर के लिए कहा भी है : ‘स एव पूर्वेषामपि गुरु वह गुरुओं का भी गुरु है। श्रुति ने भी कहा है कि मोक्ष मार्ग पर वही चल सकता है ‘यमेवैषा वृणुते’—जिसका वह परमात्मा स्वयं वरण करता हो, जिसको वह आप अपनाता हो। साधक को यही परमात्मा-शक्ति कर्म समुद्र से ऊपर उठाकर ले गई। योग दर्शन में पतंजलि ने कहा है कि योग में सिद्धि होती है तो सबसे पहले श्रद्धा उत्पन्न होती है, तब वीर्य जागता है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि साधक की श्रद्धा से भेट हो और तब श्रद्धा के प्रसाद से उसको जो काम करना है उसके करने की शक्ति प्राप्त हो, वह जगत् के सनियमन में समर्थ हो। एक और बात है। योग की क्रिया के द्वारा साधक ऊपर तो पहुँच गया, परन्तु स्खलित होने का भी बहुत बड़ा डर रहता है। आचार्यों ने कहा है कि योग में सफलता से अभिमान का उदय हो सकता है। पतंजलि ने उपदेश दिया है कि योगी को विस्मय न करना चाहिए। इस बात पर मुस्कुराना नहीं चाहिए कि देखो मैं कहाँ तक ऊपर उठ गया। इसलिए योग के अंगों में प्राणायाम के पीछे प्रत्याहार की चर्चा है। प्राणायाम के द्वारा जब कुछ सिद्धि होती है तो विषयों के भोग की बहुत बड़ी शक्ति आ जाती है और इच्छा मात्र से बहुत से भोग उपलब्ध हो जाते हैं। उस समय यदि वित्त उधर की ओर झुका तो सारी साधना नष्ट हो जायेगी, इसलिए प्रत्याहार की आवश्यकता होती है। प्रत्याहार में सफलता प्राप्त करने के लिए भी श्रद्धा की आवश्यकता होती है। श्रद्धा शब्द की उत्पत्ति ‘थ्रत्’ से हुई है और ‘थ्रत् इति सत्य नाम सुपठितम्’। थ्रत् का अर्थ है सत्य। गुरु और शास्त्र का वाक्य पूर्णतः सत्य है, ऐसी निष्ठा का नाम है श्रद्धा। इसके बल पर प्रत्याहार बर्ता जा सकता है। इसलिए जो मननशील साधक कर्मजाल के योग की साधना द्वारा ऊपर पहुँचता है वह एक ओर तो श्रद्धा की सहायता से प्रत्याहार करके अपने को योग की ऊँची भूमिकाओं की ओर ले जाता है, दूसरी ओर श्रद्धा की सहायता से उसको कार्य-सम्पादन के लिए वीर्य प्राप्त होता है। बिना मनु और श्रद्धा के मेल के लीला वहीं-की-वहीं समाप्त हो जाती, साधक जल-प्लावन से निकलकर मोहप्लावन में डूब जाता।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के 151वें सूक्त का नाम श्रद्धा सूक्त है। इसकी क्रषि का अर्थात् मन्त्र दृष्टि ऋषिका नाम श्रद्धा है। वह काम गोत्र से उत्पन्न होने से कामायनी भी कहलाती है। काम शब्द का वैदिक वाङ्मय में विशेष अर्थ है। नासदीय सूक्त में कहा है ‘कामस्तदग्रे अभवत्’, उससे सबसे पहले काम उत्पन्न हुआ। उसी प्रकार जगत् के सर्ग का वर्णन करते हुए श्रुति में कहा गया है कि ‘सोऽकामयत्’। कामना यह भी ‘एकोऽहम् बहुस्याम्’ मैं एक हूँ अनेक हो जाऊँ। महाप्रलय के समय जगत् सिमटकर परमात्मा में विलीन हो गया था। काल पाकर जीवों का कर्म फलोन्मुख हुआ था। इससे परमात्मा में जो स्फुरण हुआ उसका नाम काम है। इस संकल्पयुक्त परमात्मा को हिरण्यगर्भ कहते हैं। इसमें समूचा भावी जगत् विचार रूप से विद्यमान

रहता है। पीछे वह विचार विस्तार को प्राप्त होता है। परमात्मा के इस काम, इस संकल्प से जहाँ जगत् का विकास हुआ वहीं श्रद्धा उत्पन्न हुई। समाधि की अवस्था में मनु को परमात्मा का तादात्म्य प्राप्त हुआ। उनके अन्तःकरण में श्रद्धा के द्वारा जगत् का वह चित्र, वह योजना उतरी जो आदि में विचार रूप से परमात्मा में उदय हुई थी। उसी चित्र के अनुसार उन्होंने अपने मन्वन्तर का कार्य संचालित किया।

इसी दृष्टि से मैं मूल वैदिक आख्यान को देखता हूँ। ‘कामायनी’ के अवतरण देने की यहाँ आवश्यकता नहीं। मुझको ऐसा प्रतीत होता है कि ‘प्रसाद’ जी के सामने कुछ ऐसी ही व्याख्या थी और उस व्याख्या का समुद्र्य पोथियों के पढ़ने से नहीं प्रत्युत उनकी निजी अनुभूति से हुआ था। इस अनुभूति को, इस व्याख्या को, उन्होंने ‘कामायनी’ के द्वारा व्यक्त करने का प्रयत्न किया है और मेरी ऐसी धारणा है कि जहाँ तक कि किसी कवि को ऐसे प्रयत्न में सफलता हो सकती है, उनको सफलता मिली है। मुझको ऐसा लगता है कि आधुनिक हिन्दी के बहुत से ग्रन्थ चाहे विलीन हो जायें, परन्तु ‘कामायनी’ हमारे वाड्मय में सदैव ऊँचे स्थान पर रहेगी।

दि ब्यूटिफुल ट्री : राष्ट्रीय शिक्षा की नवरचना

रामेश्वर मिश्र पंकज

19वीं शताब्दी ईस्वी के आरम्भ में भारत में शिक्षा की क्या स्थिति थी और शिक्षा प्रदान करने की प्रक्रिया क्या थी, तन्त्र क्या था, इस पर श्री धर्मपाल जी ने इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी, लन्दन में सुरक्षित दस्तावेजों के आधार पर स्वयं अंग्रेजों के साक्ष्य से विस्तृत दस्तावेज प्रस्तुत किये हैं, जो पुस्तकाकार रूप में श्री सीताराम गोयल जी ने सर्वप्रथम 1983 ईस्वी में प्रकाशित किये थे। परन्तु वर्तमान भारतीय शिक्षा तन्त्र ने उस पुस्तक के तथ्यों का कोई भी संज्ञान नहीं लिया और ब्रिटिशकाल में प्रचारित तथ्यों को भी दबाते हुए कॉंग्रेस-कम्युनिस्ट शिक्षाविदों ने यह झूठा प्रचार पहले से कई गुना अधिक बढ़ा-चढ़ाकर प्रचारित किया कि परम्परागत भारत में शिक्षा केवल द्विजों तक सीमित थी। जबकि उक्त ब्रिटिश दस्तावेज इस बात के प्रमाण हैं कि 18वीं शताब्दी ईस्वी के अन्त तक भारत में जो शिक्षा चल रही थी, वह समकालीन इंडैण्ड की शिक्षा की दशा से बहुत आगे थी तथा भारत के लगभग प्रत्येक गाँव में एक पाठशाला होती थी, जिसमें हर जाति व वर्ग के लोग पढ़ते थे और शिक्षक भी सभी जातियों से होते थे। उच्च शिक्षा की विशेषज्ञता में विशिष्टताएँ थीं, जो समूहगत थीं। बड़े गाँवों में एक से अधिक पाठशालाएँ तथा नगरों में दर्जनों पाठशालाएँ होती थीं।

जो शिक्षा दी जाती थी

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में वेदों और शास्त्रों तथा महाकाव्यों सहित जिन ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन सर्वत्र किया जाता था, उनका विवरण ब्रिटिश दस्तावेजों में दिया गया है। लेखा, गणित, खगोलशास्त्र, भूगोलशास्त्र एवं अनेकों प्रकार के शिल्पों तथा चिकित्सा और आयुर्वेद के उन्नत ज्ञान का आदान-प्रदान उस शिक्षा में स्वदेशी पद्धति से सहज हो रहा था। वह परम्परागत शिक्षा भले ही अंग्रेजों ने बलपूर्वक समाप्त करने

* प्रो. रामेश्वर मिश्र पंकज, निदेशक, धर्मपाल शोध पीठ, बी-12, आकृति गार्डन, भौपाल (म.प्र.);
मो. 09425602596; email: prof.rameshwar@gmail.com

की चेष्टा की, परन्तु लगभग आधे भारत में 1947 ईस्वी तक वह शिक्षा पूर्ववत् चल रही थी।

परम्परागत शिक्षा का सम्पूर्ण परित्याग : नागरिकों के साथ भेद-भाव सम्पूर्ण देश में पारम्परिक शिक्षा का विनाश करने का प्रयास 1947 ईस्वी के बाद नास्तिकों के एक समूह द्वारा किया गया। उसका उद्देश्य एक नास्तिक भौतिकवादी सम्प्रदाय के अधीन समस्त हिन्दुओं के मानस को नियन्त्रित, परिवर्तित और रूपान्तरित करना रहा है। जो भयंकर तानाशाही प्रवृत्ति है और जो बहुसंख्यकों के मानवाधिकारों का उद्दंडतापूर्ण हनन है। दूसरी ओर अपसंख्यकों को विशेष संरक्षण के नाम पर इस्लाम, ईसाइयत और बौद्धधर्म की शिक्षा भारतीय राजकोष के द्वारा वित्त पोषित हो रही है। इस प्रकार नागरिकों के साथ शिक्षा के क्षेत्र में राज्य के कर्ता-धर्ताओं ने भयंकर भेदभाव किया है, जो भारतीय संविधान की मूल भावना के सर्वथा विपरीत है। बहुसंख्यक लोगों को उनके अपने धर्म के ज्ञान से बलपूर्वक वर्चित करना है और इसके लिए राजकीय प्रावधानों का सहारा लेना तथा अल्पसंख्यकों को उनके मजहब और रिलिजन का ज्ञान देने के लिए भारतीय राजकोष से वित्त पोषण करना और विशेष सुविधाएँ प्रदान करना लोकतन्त्र के सभी अर्थों के पूर्णतः विरुद्ध है।

इसका परिणाम यह हुआ है कि बहुसंख्यक भारतीयों को दर्शन, धर्मशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, न्यायशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, भूगोल तथा साहित्य और कलाओं के क्षेत्र में भारतीय ज्ञान परम्परा से पूरी तरह वर्चित रखा गया। यह संसार में किसी भी देश में दी जा रही शिक्षा के नितान्त विपरीत स्थिति है। इसलिए यह स्थिति बदलना अत्यन्त आवश्यक है। यह बदलना बहुत सरल है क्योंकि 1947 ईस्वी तक भारतीय विद्या परम्परा पर्याप्त रूप से गतिशील थी और गुरुकुलों तथा सनातन धर्म के विविध केन्द्रों के द्वारा आज भी वह ज्ञान परम्परा पर्याप्त सक्षम रूप में प्रवाहित है। आवश्यकता उसे कम-से-कम इतना महत्व देने की है जितना कि समाज विज्ञान के विषयों और साहित्य में नास्तिकों के पन्थ के ज्ञान को महत्व दिया जाता है।

लोकतन्त्र की अपेक्षाएँ

लोकतन्त्र का यह आवश्यक अंग है कि नास्तिकों का कोई एक या कुछेक सम्प्रदाय शेष समाज की ज्ञान परम्परा को बलपूर्वक नष्ट करने का प्रयास न करें। सर्वप्रथम तो भारतीय शिक्षा का जो इतिहास पढ़ाया जाता है, उसमें झूठ की भरमार है और हजारों वर्षों तक अबाधित रूप से चलने वाली शिक्षा परम्परा को 15 या 20 पृष्ठों में गलत-सलत ढंग से समेटकर लगभग 400 वर्षों तक छिटपुट, यहाँ-वहाँ चली इस्लामी शिक्षा को तथा 90 वर्षों तक लगभग आधे भारत में चली एंग्लोइण्डिया शिक्षा को

सैकड़ों पृष्ठों में विस्तार से प्रस्तुत, करना किसी भी मानदण्ड पर असत्य का प्रसार करना है।

कम्पनी-चाकर मैकाले की नीति से आज की शिक्षा का कोई सम्बन्ध नहीं है

1947 ईस्वी के बाद तो शिक्षा पूरी तरह भारतीयों के अपने ही हाथ में है और उसमें बड़ी संख्या तो बहुसंख्यक समाज के सदस्यों की ही है। फिर भी, राज्यकर्ताओं ने बहुसंख्यकों के या तो केवल नास्तिक एवं पदार्थवादी प्रतिनिधियों को शिक्षा से सम्बन्धित विषयों पर विचार प्रस्तुत करने के लिए चुना या फिर कभी अन्य लोगों को चुना, तो उनकी बात अनुसन्धान कर दी। सम्भवतः इसका कारण यह था कि भारतीय ज्ञान परम्परा प्रवाहित रहने पर दिन-प्रतिदिन की राजनीति में संतिष्ठ लोगों को राजनेता या राजपुरुष कहा जाता, विचारक नहीं। परन्तु किसी कारण भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री सम्भवतः स्वयं को विचारक की तरह प्रस्तुत करने की प्रेरणा से भरे थे और इसके लिए उन्होंने सोवियत संघ की शैक्षणिक नौकरशाही की तर्ज पर भारत में शिक्षा विभाग को विकसित किये जाने पर जोर दिया। परिणामस्वरूप ज्ञान और प्रतिभा का हनन हुआ तथा राजपुरुषों के अनुयायीजनों को ही विद्वान मानने का एक चलन हुआ। यह स्थित भारत जैसे गौरशाली राष्ट्र के लिए अच्छी नहीं है। राजनीति की तरह शिक्षा क्षेत्र में भी बदलाव की आवश्यकता है।

1857 के बाद आधे भारत में अंग्रेजी राज

कम्पनी प्रबन्धक विलियम बेंटिक ने जब अपने बाबू मैकाले की शिक्षानीति की फाइल पर हस्ताक्षर किये, तब तक भारत में अंग्रेजों का राज नहीं थी। इस्ट इंडिया कम्पनी 1857 ईस्वी तक भारत के विभिन्न राजाओं और नवाबों के बीच छलघातपूर्ण मध्यस्थता मात्र कर रही थी। इस प्रकार वह एक क्लर्क और एक मैनेजर के बीच का पत्राचार था, जिस पर जाने क्यों 1947 ईस्वी के बाद व्यर्थ ही हाहाकार किया गया है। वर्तमान शिक्षातन्त्र का उससे कोई भी वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। उससे वर्तमान की निरन्तरता देखना सही नहीं है।

अन्ततः: 1858 ईस्वी में पहली बार लगभग आधे भारत में सीधे ब्रिटिश शासन ने भारतीयों से आत्मीयता की धोषणा करते हुए शासन सूत्र सँभाले। उसके बाद ही भारत में ब्रिटिश अनुसरण में मद्रास (चेन्नई), मुम्बई और कोलकाता में तथाकथित विश्वविद्यालय बने। जिनका प्रभाव भारत के विराट ज्ञान-तन्त्र के सन्दर्भ में राई बराबर ही था। उसे महत्व राज्य के संरक्षण द्वारा ही दिया गया। राज्य के विशेष पक्षपात के बिना वह शिक्षा भारत में एक भी दिन नहीं फैलती।

समितियाँ और आयोग

1947 ईस्टी के बाद पहले तो माध्यमिक शिक्षा के विकास के लिए कुछ समितियों और आयोगों का गठन हुआ। इसके साथ ही विश्वविद्यालयीन शिक्षा के लिए भी आयोग बने। इनमें सबसे महत्वपूर्ण है—डॉ. दौलतसिंह कोठारी की अध्यक्षता वाला शिक्षा आयोग, जो 1964 ईस्टी में बना और जिसने दो वर्ष काम कर रिपोर्ट प्रस्तुत की। इसमें भी मुख्यतः माध्यमिक शिक्षा की संरचना पर ही ध्यान दिया गया था। बाद में डॉ. राधाकृष्णन समिति ने विश्वविद्यालय की शिक्षा पर ध्यान केन्द्रित किया।

सर्वविदित है कि किसी भी देश में शिक्षा का स्वरूप उच्च शिक्षा से नियन्त्रित होता है। प्रत्येक देश में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अपनी ही ज्ञान परम्परा का पोषण किया जाता है और संसार से सब कुछ जो उपादेय है, सीखा जाता है। इसलिए माध्यमिक शिक्षा पर अधिक ध्यान केन्द्रित करना और उच्च शिक्षा के विषय में उदासीन रहना या अधिक विचार न करना गम्भीर प्रमाद है।

उच्च शिक्षा के सत्त्व पर कभी विचार ही नहीं हुआ

डॉ. राधाकृष्णन कमीशन ने उच्च शिक्षा के लिए अनेक महत्वपूर्ण सुझाव देने का प्रयास किया था, कोठारी कमीशन ने भी यही कार्य किया। परन्तु कहीं भी, किसी भी आयोग ने स्वयं शिक्षा के आन्तरिक स्वरूप पर कभी कोई विचार ही नहीं किया। यह मान लिया गया कि शिक्षा तो एक ही प्रकार की होती है और वह भारत में चल रही एंग्लोइण्डियन शिक्षा है। यह एक आशर्यजनक तथ्य है। विश्व में सर्वत्र भिन्न-भिन्न प्रकार की उच्च शिक्षा चल रही है और कहीं भी उच्च शिक्षा के मानविकी एवं समाजविज्ञान के क्षेत्रों में विदेशों की ज्ञान परम्परा को केन्द्रीय महत्व नहीं दिया जाता।

महत्वपूर्ण शिक्षा का आकार नहीं, सत्त्व है। ठाट नहीं, प्राण है। देह नहीं, मस्तिक है। किसी भी राजकीय आयोग ने शिक्षा की अन्तर्वस्तु पर, सत्त्व पर, मर्म पर, उसके बौद्धिक तत्त्व पर कभी कोई विश्लेषण तक प्रस्तुत नहीं किया है। मान लिया गया है कि वह तो एक-सी ही रहेगी और अभी जैसी ही रहेगी।

1947 ईस्टी तक अखण्ड भारत में कुल 14 विश्वविद्यालय थे, जिनमें कुल 2 लाख से कम छात्र थे। औसतन 12 हजार छात्र प्रति विश्वविद्यालय जो कि अभी के कॉलेजों जैसे ही थे। वर्तमान में भारत में विश्वविद्यालयीन शिक्षा में प्रवेश लिये हुए विद्यार्थियों की कुल संख्या लगभग 2 करोड़ से अधिक है, जो 1947 ईस्टी से 100 गुनी अधिक है। आवादी चार गुनी बढ़ी है, परन्तु विद्यार्थी संख्या 100 गुनी बढ़ गई है। केन्द्रीय विश्वविद्यालयों की संख्या 44 है। राजकीय प्रान्तीय विश्वविद्यालय 306 हैं और राज्यों में निजी विश्वविद्यालय 154 हैं। 129 डीम्ड विश्वविद्यालय हैं, 67 अन्य

राष्ट्रीय महत्व के संस्थान हैं। कुल मिलाकर 700 विश्वविद्यालय जैसे संस्थान उच्च शिक्षा के हैं। दूरवर्ती शिक्षा के केन्द्र इनसे अलग हैं। स्पष्ट है कि वि.वि. एवं उच्च शिक्षा केन्द्रों की संख्या 1947 ईस्टी से 50 गुनी अधिक हो चुकी है।

अतः आज की शिक्षा से मैकाले की या ब्रिटिश राज की शिक्षा को एक करके देखना अर्थहीन है। यह शिक्षा तन्त्र भारतीयों ने रखा है और स्वेच्छा से रखा है। विदेशी शासन या सेना के बल पर यह नहीं रखा गया है। इसलिए इस शिक्षा के सत्त्व में यदि भारतीय ज्ञान-परम्परा को केन्द्रीय स्थान नहीं प्राप्त है तो इसमें भारत के लगभग सभी शक्तिशाली समूहों की सहमति है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भारतीय विद्या की स्थिति इसका एक दृष्टान्त है। वह तो बनाया ही भारतीय विद्या परम्परा के ज्ञान प्रसार के लिए था। परन्तु देश की इच्छाओं के विपरीत नास्तिक एवं पदार्थवादी राजपुरुषों ने उसे भी यूरो-भारतीय विद्या-परम्परा की एक शाखा बना डाला है।

हमारे विश्वविद्यालयों से नहीं निकले एक भी दार्शनिक, राजनीतिशास्त्री समाजवैज्ञानिक

इन 700 विश्वविद्यालयों एवं उच्च शिक्षा केन्द्रों से विगत 70 वर्षों में एक भी दार्शनिक ऐसा नहीं निकला है, जो भारतीय दर्शन की शीर्ष प्रतिभा कहा जा सके। एक भी राजनीतिशास्त्री ऐसा नहीं निकला है, जिसने रामायण-महाभारत-शुक्र नीति-कौटिल्यीय अर्थशास्त्र-कामन्दक-नीति आदि भारतीय स्रोतों के आधार पर कोई भी राजनीति शास्त्रीय ग्रन्थ लिखा हो, एक भी समाजवैज्ञानिक या समाजशास्त्री ऐसा नहीं सामने आया जिसने हिन्दू धर्मशास्त्रों को केन्द्र में रखकर कोई समग्र समाजवैज्ञानिक पुस्तक प्रस्तुत की हो, एक भी अर्थशास्त्री सामने नहीं आया, जिसने भारतीय अर्थशास्त्र को केन्द्र में रखकर कोई अर्थशास्त्रीय विश्लेषण किया हो। एक भी मनोवैज्ञानिक आचार्य नहीं उभरे जिन्होंने योगशास्त्र जैसे अद्वितीय शास्त्र को केन्द्र में रखकर कोई मनोवैज्ञानिक ग्रन्थ प्रस्तुत किया हो।

वि.वि. के बाहर के प्रामाणिक विद्वानों का संज्ञान नहीं

भारतीय सन्दर्भों को भी समान महत्व का प्रमाण मानकर इतिहास लिखने वाले कई प्रतिभाशाली भारत में अवश्य हुए: श्री पुरुषोत्तम नागेश ओक, श्री विनायक दामोदर सावरकर, श्री भगवद्गत, श्री युधिष्ठिर मीमांसक, श्री गुरुदत्त, श्री सीताराम गोयल, श्री रघुनन्दन शर्मा, श्री चन्द्रगुप्त वेदालंकार, श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य, श्री दशरथ शर्मा, डॉ. बलराम चक्रवर्ती, श्री ए.एस. आल्टेकर, प्रो. जयचन्द्र विद्यालंकार, प्रो. सत्यकेतु विद्यालंकार, श्री रघुनाथ सिंह, श्री वासुदेव पोद्दार, श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, श्री गौरीशंकर ओझा, डॉ. रामगोपाल मिश्र, डॉ. किशोरी शरण लाल, श्री डी.आर.

मनकेकर, श्री शरद हेबालकर आदि; परन्तु उन्हें भारतीय विश्वविद्यालयों में कोई केन्द्रीय महत्व नहीं दिया गया।

परचेबाजों को विद्वान बना डाला

इतना ही नहीं, रमेशचन्द्र मजूमदार, नीलकंठ शास्त्री, पांडुरंग वामन राणे आदि आधुनिक यूरोपीय राजपरम्परा के ज्ञान से परिपृष्ठ जिन भारतीय विद्वानों ने उच्चतम यूरोपीय कसौटियों पर कसकर इतिहास-लेखन किया, उनके द्वारा प्रमाणित तथ्य भी कम्प्युनिस्ट परचेबाजों द्वारा खारिज कर दिये गये और कॉर्प्रेस शासन में इन कम्प्युनिस्टों की ही एकमात्र अधिकृत विद्वान बताकर उनके निर्देशन में इतिहास के नाम पर झूठ का प्रचार कराया गया। यह स्थिति भयावह है।

सत्यनिष्ठ भारतीयों में भी तप की कमी

यद्यपि इसमें सत्यनिष्ठ भारतीयों की धारा में विद्या-क्षेत्र में पुरुषार्थ और तप की कमी भी एक बड़ा कारण है, तथापि भारतीय राज्यशक्ति को सीवियत सहायता से नास्तिक भौतिकवादी पन्थ के सेवकों द्वारा अपहृत कर लिया जाना मुख्य कारण है; जिस प्रकार राजनीति में कॉर्प्रेस-मुक्त भारत का उद्घोषणा किया गया है, उस प्रकार तो नहीं, परन्तु गहन विद्या-स्तर पर झूठे परचेबाजों से मुक्त सत्यनिष्ठ इतिहास तथा सत्यनिष्ठ भारतीय राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र एवं अर्थशास्त्र लिखे जाने की आवश्यकता निर्विवाद है।

पाप-बुद्धि भारतीय ही आज की स्थिति के लिए दोषी

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 1947 ईस्वी के बाद भारत में शिक्षा का जो विस्तार हुआ हुआ और इसका जो रूप बना है, दोनों ही वस्तुतः पूरी तरह भारतीयों के द्वारा ही बना है और उसका दायित्व भारतीयों का ही है। इसके लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी के मैकाले नामक एक बाबू को दोष देते रहना अत्यन्त शर्मनाक है। मैकाले न तो भारतीय शासकों का पूर्वज है और न ही शासक। बैंटिक भी एक भी दिन भारत का शासक नहीं था। 1947 ईस्वी के बाद भारत में कोई ब्रिटिश राज नहीं है। पहले भी वह केवल लगभग आधे भारत में और केवल 90 वर्ष तक ही था। उसमें भी विश्वविद्यालयों की स्थापना तो 1916 ईस्वी से ही हुई है। अर्थात् केवल 30 वर्ष ही उच्च शिक्षा में थोड़े से हिस्सों में ब्रिटिश प्रबुद्ध था। इसमें भी 1937 ईस्वी से प्रान्तों में भारतीय जनप्रतिनिधियों का शासन स्थापित होने लगा था अर्थात् बहुत कुछ भारतीयों के अनुसार ही होने लगा था। 1937 ईस्वी में अनेक प्रान्तों में कॉर्प्रेस की सरकारें बन गई थीं। इस तरह केवल अंग्रेजों के मार्गदर्शन में चला काम उच्च शिक्षा के क्षेत्र में वस्तुतः

केवल 20 वर्ष हुआ, और वह भी बनारस, मुम्बई, पटना, हैदराबाद, मैसूर, कोलकाता, ढाका, रंगून, अलीगढ़, लखनऊ, दिल्ली, नागपुर, आगरा और अन्नामलाई में। भारत जैसे विशाल देश में ये केवल छोटे-छोटे पॉकेट जैसे थे। इसलिए 1947 ईस्वी के बाद भारत में जो कुछ भी हुआ, वह पूरी तरह भारतीयों के ही एक समूह की बुद्धि से हुआ।

1947 ईस्वी के बाद से अब तक उच्च शिक्षा के क्षेत्र में जो विस्तार हुआ, वह नास्तिक पदार्थवादी भारतीयों के पन्थ के नियन्त्रण में ही हुआ। इस अवधि में 47 से पहले की तुलना में 50 गुना अधिक विश्वविद्यालय एवं उच्च शिक्षा केन्द्र स्थापित हुए हैं और उनमें पहले से 100 गुना अधिक विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। प्रकट रूप से ऐसी कोई सन्धि भी नहीं है जिसमें भारत ने यह करार किया हो कि हम केवल इंग्लैंड और अन्य यूरोपीय देशों की नकल में अपने यहाँ शिक्षा चलायेंगे। ऐसी कोई सन्धि हो भी नहीं सकती। क्योंकि ऐसा होने पर भारत एक सम्प्रभु राष्ट्र नहीं कहा जा सकेगा। जबकि भारतीय संविधान की प्रस्तावना में ही उसे एक सम्प्रभु गणराज्य कहा गया है।

आज की स्थिति के लिए समाज जिम्मेदार नहीं

किसी सम्प्रभु गणराज्य के प्रबुद्धजनों को यह शोभा नहीं देता कि वे किसी छोटी-सी कम्पनी के एक बाबू को अपने द्वारा की जा रही करतूतों के लिए दोष देते रहें। जो लोग आये दिन मैकाले की आलोचना करते रहते हैं, उन्हें कुछ लज्जा का अनुभव करना चाहिए। ईसाइयों के अनुसार उनका एक ही जन्म होता है और फिर ‘लॉस्ट-डे ऑफ जजमेंट’ के दिन जब ‘गॉड’ तुरही बजाते हैं, तो सभी ईसाई आत्माएँ कब्रों से उठकर उनके सामने हाजिर होती हैं, जहाँ फैसला होता है। अतः स्पष्ट है कि मैकाले की आत्मा कब्र में पड़े-पड़े उन लोगों को बहुत ही शाप देगी, जो अपनी करतूतों के लिए नाहक उनकी निन्दा करते रहते हैं। नैतिकता की किसी भी कसौटी पर यह उचित नहीं है। स्वाधीन भारत में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में किये गये पाप भयावह हैं, धिक्कार योग्य हैं, निन्दनीय हैं। इस पापों की सम्पूर्ण जिम्मेदारी एक नास्तिक पदार्थवादी पन्थ के अर्धीन भेड़ों की तरह काम करने वालों की है। परन्तु सम्पूर्ण समाज पर इसकी कोई जिम्मेदारी नहीं आती।

कोठारी कमीशन की संस्तुतियाँ उपेक्षित

कोठारी कमीशन ने सत्य के परिप्रेक्ष्य में ज्ञान प्राप्त करने और परम्परागत ज्ञान का भरपूर उपयोग करने की बात कही थी। साथ ही राष्ट्रीय चेतना के विकास के लिए कार्य करना भी उच्च शिक्षा का लक्ष्य बताया था। वर्तमान में चल रही उच्च शिक्षा इनमें से एक भी कार्य नहीं कर रही है। भारत में मानविकी विद्याओं-दर्शन-शास्त्र,

मनोविज्ञान, इतिहास, राजनीति-शास्त्र, समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र और भारतीय साहित्य के क्षेत्र में जो कुछ पढ़ाया जाता है, उसमें सत्य का एक छोटा अंश ही रहता है। भारत के लाखों या हजारों वर्षों के विस्तार में जो अद्वितीय ज्ञान-साधना हुई है, विद्या के इन अनुशासनों में जैसा वैभवशाली और गौरवशाली कार्य हुआ है, उस विराट सत्य का अधिकांश भारत की उच्च शिक्षा से अनुपस्थित है। परम्परागत ज्ञान का कोई भी उपयोग इन अनुशासनों में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में नहीं होता। इतना ही नहीं, किसी नए ज्ञान की प्राप्ति का भी कोई प्रयास विश्वविद्यालयों में इन क्षेत्रों में सत्यनिष्ठा से नहीं किया जाता।

कोठारी आयोग से कहा यह था कि उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रमों में समाजविज्ञानों और मानव विज्ञानों या मानविकी विज्ञानों को पर्याप्त महत्व दिया जाना चाहिए। परन्तु भारत में उच्च शिक्षा में भारतीय समाजशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र सहित किसी भी मानविकी विद्या की पढ़ाई नगण्य है।

विश्वविद्यालयों की सम्प्रभुता की बात अवश्य की गई है। इस दृष्टि से ही विश्वविद्यालयों को समर्वत्ति सूची में रखा जाता है। इसी दृष्टि से केन्द्रीय विश्वविद्यालयों के विजिटर देश के राष्ट्रपति होते हैं। इसी प्रकार प्रान्तों के विश्वविद्यालयों के कुलपति राज्यपाल महोदय हुआ करते हैं। परन्तु व्यवहार में इसका क्या अर्थ है, यह समझ पाना बहुत कठिन है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि राष्ट्रीय शिक्षा की जो वर्तमान संरचना है, उसमें सभी केन्द्रीय विश्वविद्यालयों का वास्तविक नियन्त्रण भारत के महामहिम राष्ट्रपति 'विजिटर' के नाते किया करते हैं। परन्तु आज तक भारत में ऐसे एक भी राष्ट्रपति नहीं हुए, जो परम्परागत भारतीय ज्ञान के विद्वान हों या जिन्होंने किसी भारतीय मठ या आश्रम या गुरुकुल या परम्परागत विद्या-केन्द्र में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया हो। यह स्थिति यूरोप के विभिन्न देशों अथवा स्वयं संयुक्त राज्य अमेरिका से सर्वथा भिन्न है।

यूरोप-अमेरिका के सभी राष्ट्रपति निष्ठावान ईसाई रहे हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका के सभी राष्ट्रपति—जार्ज वॉशिंगटन से लेकर बराक ओबामा तक—ईसाई पन्थ के निष्ठावान विद्यार्थी रहे हैं। सभी ने किसी-न-किसी ईसाई मठ में शिक्षा ग्रहण की। प्रथम राष्ट्रपति जार्ज वॉशिंगटन ने तम्बाखू की खेती करते हुए अपने इलाके के एक चर्च में ही पढ़ाई की थी। दूसरे राष्ट्रपति जॉन एडम्स ने भी चर्च में ही पढ़ाई की और कुछ समय तक पादरी भी रहे थे। तीसरे राष्ट्रपति थॉमस जेफर्सन बाकायदे चर्च की पढ़ाई कर चर्च के ही एक मुलाजिम बने थे। शेष राष्ट्रपति की भी यही स्थिति है। 19वें राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन अवश्य गरीबी के कारण विधिवत पढ़ाई नहीं कर पाये, परन्तु एक साल तक पड़ोस के चर्च में अनियमित रूप से पढ़ने के बाद वे बीसों वर्ष तक मुख्यतः बाइबिल और उससे जुड़ी कथाएँ तथा प्रवचन ही पढ़ते रहे

थे। आज तक संयुक्त राज्य अमेरिका का एक भी राष्ट्रपति ऐसा नहीं हुआ है जिसने चर्च की ही किसी संस्था में मूल पढ़ाई नहीं की हो। बराक ओबामा वर्तमान राष्ट्रपति हैं और उन्होंने भी चर्च में ही पढ़ाई की तथा पहली नौकरी भी पादरियों द्वारा संचालित एक संस्था में ही की।

इसी प्रकार इंग्लैंड तथा फ्रांस, जर्मनी सहित सभी यूरोपीय राष्ट्रों के राष्ट्रपति या राजा या रानी—सब-के-सब चर्च में दीक्षित रहे हैं। सभी की पढ़ाई ईसाई चर्चों द्वारा संचालित विद्यालयों में ही हुई। सभी ने निष्ठापूर्वक बाइबिल को पढ़ा और ईसाई पन्थ के सभी धर्मग्रन्थों का विस्तार से अध्ययन किया है।

शिक्षा के शीर्ष नियन्त्रक भारतीय विद्या के ज्ञान से अल्पपरिचित

1947 ईस्वी के बाद के भारत में स्थिति इससे नितान्त विपरीत है। यद्यपि इसके पूर्व तक भारत के सभी राजा-महाराजा एवं रानियाँ हिन्दू धर्मशास्त्रों का अध्ययन अनिवार्य रूप से करते थे। परन्तु 1947 ईस्वी के बाद भारत के किसी भी राष्ट्रपति ने परम्परागत हिन्दू धर्मशास्त्रों का अध्ययन नहीं किया है। प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद की आरम्भिक शिक्षा 5 वर्ष की आयु में ही एक मौलिकी के मार्गदर्शन में हुई और उन्होंने फारसी पढ़ी। बाद में वे अंग्रेजी क्रिस्म के स्कूल में ही पढ़े तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय से एंट्रेंस की परीक्षा पास की। उन दिनों ये तथाकथित विश्वविद्यालय वस्तुतः अभी के कॉलेजों जैसे ही होते थे। बाद में प्रेसिडेंसी कॉलेज कोलकाता से ही उन्होंने प्रथम श्रेणी में अर्थशास्त्र में एम.ए. किया। फिर वे मुजफ्फरपुर में एक कॉलेज में अंग्रेजी के अध्यापक बने तथा फिर वर्ही प्रिन्सिपल बने। उसके उपरान्त उन्होंने कानूनों में मास्टर की उपाधि प्राप्त की तथा अंग्रेजी अदालतों में वकालत शुरू की।

द्वितीय राष्ट्रपति डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने लूथेरियन ईसाइयों के स्कूल में तिरुपति में शिक्षा ली और बाद में मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज में भी अध्ययन किया। उनकी नौकरी भी ईसाई पादरियों द्वारा संचालित कोलकाता विश्वविद्यालय के किंग जॉर्ज पंचम पीठ से शुरू हुई, जो ईसाई पन्थ के अनुसार मानसिक एवं नैतिक शिक्षा देने के लिए रखी गई पीठ थी।

तीसरे राष्ट्रपति डॉ. जाकिर हुसैन इस्लाम के विद्वान थे। चौथे राष्ट्रपति वराह वेंकट गिरि ने भी ईसाई मिशन में ही शिक्षा प्राप्त की। और फिर ऑयरलैंड जाकर वहाँ ईसाई पन्थ के अनुसार ही लौं की शिक्षा प्राप्त की। पाँचवें राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद इस्लाम के ही जानकार थे। छठवें राष्ट्रपति नीलव संजीव रेडी ने अवश्य थियोसोफिकल हाई स्कूल से पढ़ाई की। इसी प्रकार सातवें राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने सिख मिशनरी स्कूल से पढ़ाई की और आठवें राष्ट्रपति रामास्वामी वेंकट रमन ने सरकारी हाई स्कूल में पढ़ाई की, परन्तु 9वें राष्ट्रपति शंकर दयाल शर्मा ने सेंट जॉन कॉलेज से ही पढ़ाई की। 10वें राष्ट्रपति के आर. नारायणन ने भी एक ईसाई स्कूल

से ही पढ़ाई की। 11वें राष्ट्रपति ए.पी.जे. अब्दुल कलाम ने सेंट जोसेफ कॉलेज से पढ़ाई की। 12वीं राष्ट्रपति प्रतिभा पाटील एवं वर्तमान राष्ट्रपति श्री प्रणव मुखर्जी ने अवश्य गैर-इसाई स्कूलों में ही शिक्षा प्राप्त की है। परन्तु मूल बात यह है कि 13 में से एक भी राष्ट्रपति ऐसे नहीं हैं, जिन्होंने परम्परागत विद्याकेन्द्रों में एक दिन भी अध्ययन किया हो अथवा जिनका भारतीय विद्या परम्परा से कोई गहरा सम्बन्ध हो या हिन्दू धर्मशास्त्रों के जो अधिकारी विद्वान हों। यह स्थिति यूरोप एवं संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपतियों से नितान्त भिन्न है, यह हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं।

इस प्रकार भारत की उच्च शिक्षा का नियन्त्रण 1947 ईस्वी के बाद से विशेषकर आधिकारिक रूप से ऐसी विभूतियों के हाथ में है, जो भारतीय ज्ञान-परम्परा से घनिष्ठता से सम्बन्धित नहीं हैं। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि इन लोगों को भारतीय ज्ञान-परम्परा के प्रति कोई आदर है ही नहीं। आदर होना अलग बात है और उससे गहराई से परिवर्त होना अलग बात है। विद्या तो गहरे परिचय की अपेक्षा रखती है। अतः स्पष्ट है कि शिक्षा के क्षेत्र में भारत विश्व में अपवाद है। सारी दुनिया में शिक्षा सम्बन्धित देश और समाज की ज्ञान-परम्परा के जानकारों और विशेषज्ञों के निर्देशन और मार्गदर्शन में ही दी जाती है। भारत में स्थिति इससे उलटी है। इसके साथ ही, शिक्षा का समूचा तन्त्र एक प्रकार की नौकरशाही के ही अधीन है और इस नौकरशाही को भी भारतीय ज्ञान-परम्परा का कोई भी ज्ञान प्रदान नहीं किया जाता। उनकी भी पढ़ाई-लिखाई इसाई के ही दीन-हीन अनुसरण वाली पढ़ाई-लिखाई है। ऐसी स्थिति में शिक्षा देने वालों अथवा शिक्षा के स्वरूप का निर्धारण करने वालों का शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा रख रहे भारतीय परिवारों से सम्बन्ध आत्मीयता का नहीं रह जाता, वह प्रभुता और रौब-दाब का ही रहता है।

विदेशी बुद्धि से संचालित अफसर ही निर्णायिक

जैसा ऊपर उल्लेख है, राष्ट्रपति महोदय का 'विजिटर' होना या राज्यपाल महोदयों का राज्यों के विश्वविद्यालयों का कुलाधिपति होना व्यवहार में प्रभुत्व के अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं रखता क्योंकि ये महानभावगण भारतीय ज्ञान-परम्परा के कोई अधिकारी विद्वान नहीं होते। इस प्रकार सामान्यतः तो इसके द्वारा शीर्ष प्रशासनिक अधिकारी ही विश्वविद्यालयों को बड़ी सीमा तक नियन्त्रित करते हैं। इस प्रशासनिक अधिकारियों को प्रशासनिक ज्ञान ही दिया जाता है। वह भी केवल आंगल भारतीय या यूरो-भारतीय ज्ञान। भारतीय ज्ञान परम्परा का लेश मात्र भी आईएएस और आईपीएस की पढ़ाई का अंग नहीं है। ऐसे में इन अधिकारियों के द्वारा विश्वविद्यालयों में जिस ज्ञान का विस्तार करने का दबाव डाला जाता है या प्रेरणा दी जाती है, वह पूरी तरह यूरो-भारतीय ज्ञान ही होता है। इस प्रकार व्यवहार में समस्त भारतीय उच्च शिक्षा भारत-निरपेक्ष है। वह भारतीय विद्या परम्परा से पूरी तरह रहित है।

भारत में नहीं पढ़ाये जाते भारतीय दर्शन, राजनीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र और समाजशास्त्र

देश के शीर्ष दार्शनिकों ने उच्च शिक्षा के अनेक मंचों, केन्द्रों और पत्रों के जरिए खुले तौर पर यह बात कही है कि भारत के विश्वविद्यालयों के दर्शन विभागों में जो कुछ पढ़ाया जाता है, वह किसी भी रूप में भारतीय दर्शन नहीं है। वह यूरोपीय दर्शन परम्परा की एक भारतीय शाखा मात्र है। समाज विज्ञान, राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में भी यही सत्य है। इतना ही नहीं, भारत का इतिहास 1947 ईस्वी के बाद विशेषकर विराट भारतीय साक्षों की सम्पूर्ण उपेक्षा करते हुए और भारत के विरुद्ध जा सकनेवाले विदेशी वृत्तान्तों, गप्पों और घुमकड़ों के बयानों को आधार बनाकर भारत विरोधी झूठ फैलाने के लिए रचा गया है। उसे किसी भी प्रकार भारत का इतिहास नहीं कहा जा सकता।

विनम्र उपायों से शुभारम्भ करें

अतः राष्ट्रीय शिक्षा की नवरचना के लिए कुछ कदम तत्काल आवश्यक हैं। पिछले लगभग 70 वर्षों में भारत के विश्वविद्यालयों में मानविकी के क्षेत्रों में जिन लोगों ने नितान्त अभारतीय ज्ञान परम्परा को बलपूर्वक प्रतिष्ठित किया और कराया है, वे लोग निश्चय ही राज्यशक्ति के द्वारा संरक्षित और प्रतापी लोग हैं। अतः उनको शिक्षा के क्षेत्र से बाहर कर पाना असम्भव है। परन्तु एक लोकतान्त्रिक राष्ट्र में बड़ी विनम्रता से आग्रह किया जा सकता है कि मानविकी विद्याओं के क्षेत्र में भारतीय विद्या परम्परा को कम-से-कम उतना स्थान तो दिया ही जाये, जितना पिछले 67 वर्षों से एक नास्तिक भौतिकवादी पन्थ के लिए उपादेय ज्ञान को बलपूर्वक फैलाने के लिए स्थान दिया जाता रहा है। क्योंकि इस नास्तिक भौतिकवादी पन्थ से बाहर करोड़ों भारतीय हैं, जिन्हें भारतीय विद्या परम्पराओं में पूरी निष्ठा है।

उचित यह होगा कि उदाहरण के लिए दर्शनशास्त्र की पढ़ाई में दो नितान्त अलग-अलग सम्बर्ग रखे जायें—एक भारतीय दर्शन का और दूसरा यूरोपीय दर्शन का। अच्छा तो यह होगा कि विश्व के अन्य क्षेत्रों के दर्शनों के भी अलग-अलग वर्ग रखे जायें। इनमें जो पढ़ाई हो, वह सम्बन्धित ज्ञान क्षेत्र के विशेषज्ञों के द्वारा रचित ग्रन्थों के आधार पर ही हो। इस थोड़ा और स्पष्ट करने के लिए यह बताना आवश्यक है कि यूरोप में जितने भी प्रमुख दार्शनिक हुए हैं, वे सब-के-सब इसाई पादरी ही रहे हैं। यद्यपि उनमें से कुछ ने बाद में इसाई चर्च के प्रति निष्ठा त्याग दी। कुछेक पूरी तरह इसाइयत के विरोधी भी हो गये। परन्तु 90 प्रतिशत यूरोपीय दार्शनिक इसाई पादरी ही रहे हैं। अतः भारत में भी भारतीय दर्शन पढ़ाने के अधिकार भारतीय मठों और आश्रमों में पढ़ने वाले विद्वानों को ही होना चाहिए। अंग्रेजी ढंग की पढ़ाई करनेवाला

व्यक्ति भारतीय दर्शन को पढ़ाने का अधिकारी तब तक नहीं है, जब तक वही कम-से-कम एक वर्ष किसी आश्रम का या किसी मठ का अन्तेवासी न रह ले। इसमें भी नए-नए बने यूरो-भारतीय किस्म के मठों और आश्रमों के अन्तेवासियों को अधिकारी नहीं माना जायेगा। परम्परागत आश्रमों और मठों के अन्तेवासी ही भारतीय दर्शन को पढ़ाने के अधिकारी हैं। इस विषय में प्रारम्भ में इतना किया जा सकता है कि हमारे बड़े धर्मचार्यों से प्रार्थना करके कम-से-कम तीन माह का एक प्रशिक्षु पाठ्यक्रम चलाकर उसमें सम्बन्धित अध्यापकों या विद्वानों का प्रशिक्षण होना और सम्बन्धित धर्मचार्य द्वारा उनके अधिकारी विद्वान होने का प्रमाण-पत्र निर्गत करना अनिवार्य होना चाहिए।

इसी प्रकार राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में भी केवल वही व्यक्ति भारतीय राजनीति शास्त्र पढ़ाने का अधिकारी हो, जो मूल स्रोत के रूप में वाल्मीकि रामायण, महाभारत, चाणक्य का अर्थशास्त्र तथा अन्य राजनीतिशास्त्रीय ग्रन्थों और भारतीय धर्मशास्त्रों का सीधा अध्ययन करे तथा जो संस्कृत के ज्ञान से सम्पन्न हो।

समस्त भारत में भारतीयता लाने की गर्वपूर्ण घोषणाएँ भारतीयता को दबाने या नष्ट करने का आवरण नहीं बननी चाहिए। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में यूरो-अमेरिकी ज्ञान-धारा के विनम्र प्रशिक्षुओं का विशाल उत्पादन भारतीय ज्ञान के विस्तार के रूप में प्रस्तुत करना दोनों ही ज्ञान-धाराओं के साथ घोर अन्याय है यद्यपि वह यूरो-अमेरिकी धारा की सेवा अवश्य है।

भारत में पहले चरण में भारतीयता को, हिन्दू धर्म को, हिन्दू ज्ञान-परम्परा को, हिन्दू शास्त्र परम्परा को उतना ही स्थान मिल जाये तो शुरुआत के लिए पर्याप्त है, जितना स्थान 1947 ईस्वी से अब तक के 68 वर्षों में भारत में शिक्षा के क्षेत्र में ईसाइयत, इस्लाम और यूरोपीय ज्ञान परम्परा को प्राप्त है। अगले चरण का क्रम तो बाद में कभी आयेगा। परन्तु इतना न्याय तो तत्काल होना चाहिए। भारत की उच्च शिक्षा वैसी ही होनी चाहिए, जैसी विश्व में सर्वत्र स्वस्थ एवं आत्मगौरव सम्पन्न सभी राष्ट्रों की है।

शिक्षा : संकल्पना, सम्भावनायें, समाधान

जगमोहन सिंह राजपूत

1. संकल्पना

1.1 मनुष्य के विकास क्रम को समझने के प्रयत्न हर समाज, सभ्यता तथा संस्कृति के अभिन्न अंग रहे हैं, और आगे भी रहेंगे। संस्कृति के उद्भव तथा गतिशीलता का मूलाधार रहा है ज्ञान की खोज, संकलन तथा इसमें भावी पीढ़ी को प्रवीण बनाना—यानी विधा का संचयन-संवर्धन तथा भावी पीढ़ियों द्वारा उसकी प्राप्ति। आज सामान्यतः इसे शिक्षा कहते हैं। यही सभ्यता का मूलाधार है। पाषाण युग से चलकर आज तक हम—यानी अनेक सभ्यतायें—जहाँ तक पहुँचे हैं, उसे राह दिखाई है शिक्षा ने। समय के इस वृहद अन्तराल ने शिक्षा के अनेक स्वरूप भले ही देखे हों, उसके लक्ष्यों तथा नैसर्गिक दायित्वों में परिवर्तन न आवश्यक था, न हुआ है। मानव के विकास में, प्रगति में, सबसे बड़ा उत्तरदायित्व शिक्षा का ही रहा है। कोई भी सभ्यता कहीं भी नपी-तुली गति से या पूर्व नियोजित मानकों के अनुसार नहीं बदली। संसाधन तथा आर्थिक स्थिति सभ्यता के विकास को प्रभावित करते रहे हैं। अपनी ‘स्वस्थ’ सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा वैचारिक स्थिति में भारत विदेशों में गया, तलवार या तोप लेकर नहीं—वरन् विचार, अध्यात्म तथा ज्ञान से लोगों के दिलों से सम्बन्ध बनाने गया—हृदय जीतने गया, हत्या लूटपाट, अत्याचार के लिए नहीं गया—कभी नहीं गया। ऐसा न करने के पीछे ताकत थी भारत की संस्कृति की, जिसे सामाजिक तथा वैचारिक स्थितियाँ प्रभावित करती रहीं तथा सही दिशा देती रहीं। सभ्यता तथा संस्कृति के बीच की यह घनिष्ठता अनेक बार दोनों के अन्तर को स्पष्ट नहीं करती है। “वस्तुतः यह दोनों ही मनुष्य को अन्धी गुफा से निकालकर खुले वातावरण में घूमन-फिरने, दौड़ने और मुक्त गगन में उड़ने की न केवल कल्पना, प्रत्युत शक्ति भी देती है”। स्वामी विवेकानन्द जी का विचार ऐसा ही था—कल्पना से

* पूर्व निदेशक, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली।

मनोबल बढ़ता है और वही नवचिन्तन, नवनिर्माण, नवसर्जन का आधार बनता है। “दोनों ही बौद्धिक और मानसिक चेतना का विस्तार कर उसे जन्म कालिक स्थिति से ऊपर उठाती हैं। संस्कृति और संस्कार मनुष्य को जन्मना प्राप्त शारीरिक शक्ति के परिष्कार के द्वारा दूसरा जन्म प्रदान करते हैं, द्विज बनाते हैं। कहा भी है—मनुष्य जन्म से केवल श्रमिक या शूद्र ही पैदा होता है। किन्तु संस्कार उसे द्विज बना देते हैं। सभ्यता सामाजिक आर्थिक विकास की भी परिचायक है तो संस्कृति वैयक्तिक उत्थान की। यह दोनों ही शिक्षा प्रणाली के निर्माण और फिर उसमें संशोधन और परिवर्तन के कारण बनती है।” यहाँ द्विज शब्द का आशय परम्परागत व्यवस्था से हटकर है। यह केवल इतना कहता है कि “ज्ञान प्राप्त कर व्यक्ति का नया जीवन प्रारम्भ हो जाता है।”

1.2 विद्या : भारतीय परम्परा में परा और अपरा विद्या का विस्तृत वर्णन एवं विवेचन उपलब्ध है, इस अन्तर को प्रबुद्ध वर्ग अच्छी तरह समझता भी है। अपरा विद्या में लौकिक विद्यायें शामिल हैं, जिनका मूल वेद और वेदांगों में निहित माना गया था। परा विद्या उत्तर जीवन की चिन्ता करती है और अपरा विद्या इस लौकिक जीवन को संवारने, सुधारने तथा लक्ष्यपूर्ण और आनन्दमय बनाने के पक्ष इंगित करती है। इसमें आयुर्विज्ञान, वास्तु विज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान, भूविज्ञान, समुद्रविज्ञान तथा ऐसे अनेक अध्ययन तथा क्रियान्वयन के आयाम सम्मिलित हैं, उससे सम्बन्धित ग्रन्थ सम्मिलित हैं, जो व्यक्ति, समाज तथा देश की उन्नति में सहायक हो सकते हैं। परा विद्या वह है, जिससे निःश्रेयस अर्थात् परमकल्याण या श्रेय की प्राप्ति होती है। लौकिक जीवन तथा पारलौकिक चिन्तन को आधार बनाकर शिक्षा की भारतीय परम्परा में जो निदेशक सिद्धान्त चुन गये, वे सार रूप में तथा उपलब्ध वर्णन से लगातार समझे जाते रहे :-

(क) शिक्षा असत, अयथार्थ और नश्वर से सत, यथार्थ तथा अनश्वर की ओर ले जाय। अन्धकार या अज्ञान से प्रकाश अर्थात् ज्ञान की ओर ले जाय और मृत्यु से अमरता की ओर ले जाय।

असदो मा सद्गमय

तमसो मा ज्योतिर्गमय

मृत्योर्मा अमृतम गमय

(ख) भौतिक संग्रहण—धन, धान्य, ऐश्वर्य, वैभव, संग्रह इत्यादि सत्य तथा यथार्थ की उपस्थिति को नकारने की वृत्तियाँ उत्पन्न करते हैं। शिक्षा का कर्तव्य है कि व्यक्ति को इन दोनों के बीच के अन्तर को पहचानने की क्षमता उपलब्ध कराये। तभी व्यक्ति सत्य को जानेगा, जानने का प्रयास करेगा तथा समझेगा कि अन्ततः ‘सत्यमेव जयते’ ही उपास्य है। अपरिग्रह से भारतीय संस्कृति सदा परिचित कराती रही है। अनेक देश तथा

सभ्यतायें ऐसा नहीं मानतीं : उसके दुःखद परिणाम अब विश्व के सामने हैं।

(ग) शिक्षा मनुष्य को इस लायक बनाये कि वह “साविद्या या विमुक्तये” के निहितार्थ को समझे और उस विमुक्त जीवन-निर्वाह की राह पर चले जहाँ बन्धन न हो, बन्धनों की नश्वरता की पहचान हो और विमुक्त जीवन के उत्तरदायित्वों का सहज तथा सम्यक् बोध हो। मनुष्य विमुक्त हो मगर कर्तव्य, सद्आचारण, सेवाभाव से मुक्त नहीं।

(घ) अपने और पराये का भेद भूलकर सारी मानवता को ही नहीं, मनुष्य और प्रकृति की परस्परता की समझ के आधार पर सारे विश्व को कुटुम्ब माने, अपना माने, इस बड़े कुटुम्ब के प्रति अपने कर्तव्यों का निर्धारण करने की क्षमता विकसित करे।

अयं निजः परोवेति गणना लयु चेतसाम् ।

उदार चरितानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

और यही सोच जो आगे बढ़ाती है, वह एक सहज व्यावहारिकता जो दैनन्दिन जीवन के क्रिया-कलापों में अन्तरनिहित हो जाए।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कस्तिद् दुख भवेत् ॥

(ङ) त्याग भावना की अन्तःकरण से स्वीकृति, अपने हित को कुल के लिए त्यागना, ग्राम हित में कुल-परिवार से ऊपर उठाना, राष्ट्रहित में ग्रामहित का त्याग। अन्ततः अन्तरात्मा की आवाज के आगे सारी पृथ्वी को छोड़कर अन्तरात्मा का आदेश मानना/सिखाना शिक्षा के ध्येय में शामिल होने ही चाहिए।

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ॥

ग्रामं जनपदस्यार्थे ह्यात्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥

(च) अधिक अध्ययन, अधिक शिक्षा विनम्रता का परिमाण बढ़ायें, धनार्जन का महत्व धर्म के साथ समझाये तथा सुख को परिभाषित करें।

विद्या ददाति विनयम्

विनयादि याति पात्रताम्

पात्रत्वाद् धनम् आप्नोति

धनाद् धर्मम् ततः सुखम् ।

यह उस शिक्षा के विभिन्न आयामों का श्रेष्ठ समेकित वर्णन है, जिसकी जड़ भारत की मिट्टी में गहराई तक गयी है, जिसमें भारत की सभ्यता एवं सोच समाहित

है। आज की भौतिकता से आच्छादित वैश्विक दौड़ में, जिसमें मैं, मेरा परिवार तथा मेरे अपने ही सर्वोपरि हैं, यह सोच चिन्तनशील व्यक्ति को आत्मचिन्तन करने के लिए दिशा दे सकती है। लौकिक समृद्धि आवश्यक है, जैसे स्वास्थ्य आवश्यक है, घर परिवार का भरण-पोषण आवश्यक है, परन्तु इसकी प्राप्ति की राह सही हो, जो दूसरे को रौंदकर, शोषण कर, आतंकित कर न बनाई गयी हो। ऐसा वही कर सकता है जो विनयशीलता की राह पर आगे बढ़ता रहे—तब उसके अन्तःकरण में लोभ, अहंकार, संग्रहण, आक्रामकता, अन्याय जैसे अवगुण स्वतः ही समाप्त हो जायेंगे। ऐसा व्यक्ति ही द्विज होगा—शिक्षा द्वारा दूसरा जन्म लेने वाला—भले ही उसका वर्ण—या जाति, या राष्ट्रीयता कोई भी रही हो।

1.3 पर्यावरण परिशुद्धि का व्यावहारिक प्रशिक्षण भारत की शिक्षा व्यवस्था का अभिन्न अंग रहा है। तालाब, जलाशय बनाने, ग्राम सीमा पर बरगद, पीपल, सेमल, शाल, ताड़, गूलर आदि के वृक्ष, बाँस, शमी तथा अन्य की बाड़ लगाने के प्रावधान गहन चिन्तन के परिणाम थे। गाँवों के बीच की दूरी तय थी, मृगवन का प्रावधान था जहाँ पशु लाकर रखे जाने थे। अध्ययन, ज्ञानार्जन तथा तयस्या के लिए दो कोस तक फैले अरण्य का प्रावधान था, वहाँ न वृक्ष कटेंगे, न पशु-पक्षियों का शिकार होगा—वे पूरी तरह निर्भय तथा निर्भीक रहेंगे। प्रकृति तथा मानव की परस्परता को जितना महत्व भारत की सभ्यता में दिया गया—वैसा उदाहरण अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है। शिक्षा तो वह व्यक्ति भी देता था जो यज्ञ के लिए वृक्षों की शाखायें काटने के पहले वृक्ष से प्रार्थना करता था :

“मैं यज्ञ के लिए यूप बनाने के उद्देश्य से अन्य वृक्षों को छोड़कर तुम्हारे पास आया हूँ। तुम्हारे आगे स्थित और वृक्ष भी हैं, किन्तु तुम सर्वाधिक उपयुक्त और सबसे पहले हो। मैं तुम्हें यज्ञ के लिए काट रहा हूँ, यह तुम्हारा परम सौभाग्य है। तुम मेरी रक्षा करना। मुझे पीड़ा मत पहुँचाना। तुम सौ-सौ नहीं, सहस्रों अंकुरों के साथ फिर हरे-भरे होकर बढ़ना।” भारतीय परम्परा वृक्षों में जीवन मानती रही है, उसे देव कहती रही है, हरी-भरी फसल में भी जीवन देखती रही है। क्या यह चिन्तन आगे आनेवाली “भारतीय शिक्षा प्रणाली” को नया जीवन, नया स्फुरण तथा भविष्यान्मुखी पहचान प्रदान करने में सक्षम नहीं है? आज नदियों के प्रदूषण की कोई सीमा नहीं रही। प्राचीन परम्परा में तो तालाबों-नदियों में किसी प्रकार का मल फेंकना निषिद्ध था। यह दण्डनीय अपराधों की श्रेणी में आता था। ऐसा कुछ भी जलाशयों में नहीं डालना था जो उन्हें प्रदूषित करे। स्नान कहाँ, कैसे, कहाँ-कहाँ लघुशंका तक वर्जित थी—यह सब कुछ बच्चे गृहशाला तथा समाजशाला में सीख लेते थे तथा इसका अनुपालन तथा उसके अपेक्षित परिणामों की महत्ता को गुरुकुलों तथा आश्रमों में जाकर पूरी तरह अन्तर्निहित करते थे।

1.4 शिक्षा की संकल्पना को समझने के लिए भारतीय समाज के गहन चिन्तन के अनेक अन्य दूरगामी आयामों को समझना होगा। महाभारत के आदिपर्व में चार पवित्र ऋणों—उत्तरदायित्वों का वर्णन, है जिनसे सब परिचित हैं : देवऋण, पितृ ऋण, ऋषि ऋण तथा मानव ऋण! भारत के संविधान में 1976 में अनुच्छेद 51-ए में दस मूलभूत कर्तव्य जोड़े गये थे। यह अब ग्यारह हो गये हैं। शिक्षा के अधिकार अधिनियम के स्वीकृत होने के बाद। जिन चार कर्तव्यों का वर्णन महाभारत में है, उनमें, आध्यात्मिकता, नागरिकता, मानवता, राष्ट्रीयता, अन्तरराष्ट्रीयता, अर्थात् इहलोक, परलोक—या यों कहें कि क्या शामिल नहीं है? चार मानव ऋण अनुच्छेद 51-ए ही नहीं, यूनेस्को के मानवाधिकार चार्टर को भी अपने में समाये हैं और यहाँ पर प्रकट होती है ज्ञानार्जन की भारतीय परम्पराओं की गहनता और गरिमा। आज के सभ्य समाज में इन चार ऋणों का सन्दर्भ देने में भी लोग हिचकते हैं। कैसी विडम्बना है कि इसे पन्थ विशेष से जोड़कर देखा जाए और इसकी सार्वभौमिकता से आँखें फेर ली जाएँ।

1.5 प्राचीन भारतीय संस्कृति में अनेकानेक स्थानों पर विद्या, अविद्या, अक्षरहीनता, अज्ञान, अनगढ़ता पर विचार व्यक्त किये गये हैं। यह उसके सम्पूर्ण स्वरूप का भी संक्षिप्त परन्तु अर्थपूर्ण वर्णन कर देते हैं। भर्तृहरि ने इसे जिस ढंग से कहा है उसके गहन निहितार्थ हैं :

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नं गुप्त धनं,
विद्या भोगकरीयशः सुखकरी विद्यागुरुणाम् गुरुः।
विद्या बन्धुजनां विदेशगमने विद्या परं देवतं
विद्या राजसु पूज्यते नहि धनम् विद्या विहिनः पशुः।

1.6 इसा से पूर्व पतंजलि ने कहा था कि चार प्रकार से विद्यार्जन होता है—अध्ययन कालेन, मनन कालेन, प्रवचन कालेन, प्रयोग कालेन। प्रयोग, उपयोग अत्यन्त आवश्यक हैं। इस विभाजन का आशय स्पष्ट है। आज अनेक प्रकरणों में लोग याद करते हैं कि भारत में पीढ़ी-दर-पीढ़ी ज्ञान का आदान-प्रदान वाचिक परम्परा से उन्नीसवीं सदी तक होता रहा और यह एक अत्यन्त सशक्त विधा रही है। लुहार या सुनार अपना ज्ञान तथा कौशल पुस्तकें पढ़ाकर नई पीढ़ी को नहीं देते थे। संगीतकार शिष्य को मौखिक बताता था, उपयोग करना सिखाता था। क्या यह आज समसामयिक नहीं रहा है कि केवल शिष्य (और पुत्र) से पराजित होना विजय से अधिक आनन्ददायी है? सफल अध्यापक वही जो शिष्य को ज्ञान की, आचरण की, ज्ञानार्जन की लगन में अपने आगे और ऊँचे जाने के लिए तैयार करे। इसी से मानव सभ्यता का विकास तथा प्रगति होगी। ऐसी सम्यक् सोच ही शिक्षा को गतिशीलता

प्रदान करती है। इसी से शिक्षा की ज्ञान तथा कौशल आगे बढ़ाने की विधा निर्मित होती है।

1.7 पण्डित विद्यानिवास मिश्र ने भारतीय शिक्षा की विधा—पेडागोजी को कुछ इस प्रकार समझाया था :

“प्रश्न, प्रतिप्रश्न, परिप्रश्न— तीन प्रकार के प्रश्न होते हैं। सीधा प्रश्न होता है तो छात्र कहता है कि इसको फिर से समझाइये कि इसका क्या अर्थ है। फिर प्रतिप्रश्न होता है, कि यह तो आपने कहा, इससे मुझे सन्तोष नहीं हुआ है, इसका अर्थ तो यह भी हो सकता है। फिर परिप्रश्न होता है कि हमने मान लिया यह अर्थ है, लेकिन क्या यही अर्थ वहाँ भी लागू होता है जहाँ इसका प्रयोग हुआ, यह परिप्रश्न है। इसको और व्यापक दायरा दें तो इन सभी प्रश्नों से अर्थ खुलता है और तब लिखने की आवश्यकता नहीं है। अब आप बाद में लिखें तो लिख लीजिये, सारा अर्थ खुल जाता है। जो इस प्रक्रिया से नहीं गुजरता, उसके लिए सबका सब लिखा रहता है, तो भी वह साफ हो जाता है, भूल जाता है। आज हम इस प्रक्रिया को कई दबावों में पड़कर के, या तो भूल चुके हैं या सोचते हैं कि बड़ा बोझ है। इतनी बड़ी कक्षा, इतनी बड़ी संख्या, इतना बड़ा उत्तरांश है, इसका कैसे उपयोग करेंगे ?”

1.8 अध्यापक, समाज तथा शासन का अन्तर तथा शिक्षा एवं संस्कार का सर्वगम्य वर्णन उन्होंने यों किया “उस अध्यापक का काम केवल तनखाह लेना नहीं था। समाज का दायित्व था कि वह उसकी व्यवस्था करे। कोई शासन उनकी व्यवस्था नहीं करता था, कोई सरकार उनकी व्यवस्था नहीं करती थी, लेकिन व्यवस्था हो जाती थी और उस व्यवस्था से वे सन्तुष्ट थे। उस व्यवस्था से उन्हें कोई भी शिकायत नहीं थी, जरा भी शिकायत नहीं थी। उनका काम कैसे चलता था? काम तो समाज चलाता था। समाज जानता था कि इनका काम हम नहीं चलायेंगे तो हम नहीं रहेंगे। यह हमारी आवश्यकता है। आज समाज सोचता है कि यह हमारे ऊपर एक बोझ है, यह अनुत्पादक है। यह पूरा-का-पूरा क्षेत्र ही अनप्रोडक्टिव क्षेत्र है, अनुत्पादक क्षेत्र है। इसमें कुछ पैदा ही नहीं होता। उधर परीक्षा विभाग में जो लिपिक बैठा है, वह सोचता है कि इस यूनिवर्सिटी में मैं ही उत्पादक हूँ, क्योंकि परीक्षा से पैसा आता है अर्थात् पैसा लानेवाला मैं हूँ इसलिए मैं उत्पादक हूँ। अध्यापक लोग उत्पादक नहीं हैं। जहाँ उत्पादकता की यह परिभाषा है, वहाँ शिक्षा की बात करें तो कैसे करें। शिक्षा कोई उत्पाद नहीं है।”

“शिक्षा निश्चित रूप से संस्कार का ऐसा संस्कार जो उसे उसके समग्र भविष्यत् से जोड़े, उसकी समग्र सम्भावना से जोड़े और उसको समग्र देश के ज्ञान की धारा से जोड़े। इसीलिए हम स्नातक का प्रयोग करते थे कि उस धारा में प्रवाहित होने की शक्ति उसे दें। धारा में झूबने के लिए नहीं था स्नातक, धारा में तैरने के लिए था। धारा में तैरने की क्षमता मिल जाये, गहराई में जाकर के कूद निकालने

की क्षमता उसे मिल जाये, तब वह स्नातक होगा। केवल दो-चार लोटे पानी उसमें से निकालकर सिर पर डाल लेने से वह स्नातक नहीं होगा। छींटों के डाल लेने से वह स्नातक नहीं होगा। उसमें दुबकी लगाये, तैरना जाने, पार जाना जाने तो स्नातक है, यह अपेक्षा की जाती थी उससे। यह अपेक्षा कैसे परीक्षित होती थी, उसकी प्रक्रिया बड़ी जटिल थी।

भारत में शिक्षा व्यवस्था के रूप समय के साथ परिवर्तित होते रहे। प्राचीन साहित्य-शास्त्र में इसे खोजा जा सकता है। आज इस प्रकार के प्रयास जान-बूझकर अनेक कारणों से पीछे धकेल दिये गये हैं। आवश्यकता तो इनके अध्ययन कर उसमें निहित गतिशीलता को पहचानने की है क्योंकि कोई भी जीवन्त ज्ञान संस्कृति विचारों को ग्रहण करने में प्रतिबन्ध नहीं लगाती है, केवल उनकी उपयोगिता तथा गहनता का विश्लेषण कर उन्हें अपनाती है। ज्ञानार्जन की निरन्तरता से कोई सभ्यता अपने को अलग नहीं कर सकती है।

2 सम्भावनायें

2.1 परम्परागत प्रतिवद्धता : एक बड़े अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन में भारत की शिक्षा व्यवस्था पर एक आमन्त्रित भाषण देने के बाद मुझसे प्रश्न पूछा गया : “भारत की शिक्षा व्यवस्था तो चरमराकर बहुत पहले ही ढह जानी थी—आश्चर्य है कि वह चल कैसे रही है—वहाँ तो अपवादों को छोड़कर—हर तरफ हर प्रकार की कमियाँ ही कमियाँ दिखाई देती हैं।” “प्रश्न बड़ी शालीन भाषा में पूछा गया था, मन्तव्य गहरा था, विभिन्न देशों के लोगों ने प्रश्न पूछनेवाले के लिए तालियाँ बजायीं। मेरा उत्तर था : भारत की शिक्षा व्यवस्था की परम्परागत धारा हजारों साल पुरानी है। इसे रोकने के, इसके प्रवाह को मोड़ने के अनेक प्रयास हुए, मगर इसकी जड़ें आज भी हिली नहीं हैं, कुछ शाखायें तोड़ी-फोड़ी गयी हैं मगर यह वृक्ष हरा-भरा ही बना हुआ है—इसको मजबूती से संचार हुए हैं भारत के सरकारी स्कूलों के अध्यापक, जो हर प्रकार की कमी से टक्कर लेते हुए शिक्षा को पवित्र कार्य—कर्म योग—मानकर करते रहे हैं—और आज भी, भौतिकवाद की गहन आँधी में भी, अपने कर्तव्य पर डटे हैं। वे नई पीढ़ी को तैयार कर रहे हैं, वे आज भी मानते हैं कि लोग—माता-पिता, परिवार—उन पर अटूट विश्वास रखते हैं। हर प्रकार की कमियों में पढ़कर भारत के युवा दुनिया भर में अपनी प्रतिभा का लोहा मनवा चुके हैं। जब तक इस विचार के अध्यापक रहेंगे भारत की ज्ञानार्जन की परम्परा आगे ही बढ़ती जायेगी। तालियाँ तो इस उत्तर पर भी बर्जाँ। प्रश्नों की झड़ी लग गयी—आयोजकों को सत्र के समय में परिवर्तन करना पड़ा।

वहाँ पर मैंने गांधी जी को याद किया। गांधी जी ने चैथम लाईन लन्दन में 1931 में एक प्रसिद्ध वक्तव्य दिया था कि अँग्रेजों के आने के पहले भारत अधिक

विन्तन-सृजन, वर्ष-12, अंक-4

साक्षर था। इसके प्रतिवाद किये जाने पर प्रसिद्ध विचारक धर्मपाल ने शोध किया। उनकी पुस्तक ‘दि ब्यूटीफुल ट्री’ शोध का अनुकरणीय उदाहरण है। उन्होंने गाँधी जी के कथन को अँग्रेज अफसरों के द्वारा वर्णित संख्याओं के आधार पर स्थापित किया था कि कैसे उस सुन्दर वृक्ष की जड़ों को सूखने के लिए छोड़ दिया गया था। यहाँ पर मैंने यह भी कहा था : शिक्षा के क्षेत्र में सारे विश्व पर निगाह डालें, समस्याओं की सूची बने और मुझे दी जाय तो मैं बता सकता हूँ कि भारत में वह समस्या कहाँ-कहाँ अवरोध उत्पन्न कर रही हैं। शिक्षा में ऐसी कोई समस्या नहीं है, जो भारत में कहाँ-न-कहाँ विद्यमान न हो। मगर आशा की किरण भी हर जगह उपस्थित है—जहाँ-जहाँ भारत में सूर्य की किरणें पहुँचती हैं—कहाँ-न-कहाँ कोई-न-कोई उस समस्या का समाधान ढूँढ़ रहा है, अकेले, लोगों से मिलकर या सरकार के साथ! आज भी भारत—ज्ञात तथा अज्ञात—कितने ही नवाचार हो रहे हैं और होते रहेंगे। यह नई दिशा देते रहेंगे। शिक्षा में वास्तविक, व्यावहारिक तथा मौलिक परिवर्तन के प्रथम सूत्रधार हैं—वे अध्यापक जो अपने पद की गरिमा तथा अपने कार्य की महत्ता को आत्मसात् कर चुके हैं। इनकी संख्या आनुपातिक तौर पर कम तो हुई है मगर यह वह ज्योति पुंज है जो अपने प्रकाश से अन्य को भी प्रकाशित करने की क्षमता रखता है।

2.2 इसी से कई मायनों में जुड़ी दूसरी आशा की किरण शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालयों/महाविद्यालयों से प्रकाशित हो सकती है। गुन्नार मिरडल ने 1970 के आस-पास बहुचर्चित पुस्तक “एशियन ड्रामा” में लिखा था कि विकासशील देशों के लिए शक्ति-स्रोत, पॉवर प्लांट्स हैं शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान। हर कार्यक्षेत्र में गुणवत्ता का स्तर यहाँ तय होगा—अच्छे इंजीनियर, सुयोग्य डॉक्टर, ईमानदार नेता तथा अन्य—प्रभाव तो अध्यापक का पड़ेगा ही और अध्यापक को अध्यापक-प्रशिक्षक कितना प्रभावित कर पाया था, वह भी अपना प्रभाव दिखायेगा। आज इस सम्भावना के पीछे अनेक कठु सत्य छिपे हैं, जिनसे सभी परिचित हैं : कैसे स्वीकृत होते हैं शिक्षक प्रशिक्षण के महाविद्यालय और वहाँ क्या-क्या होता है, और उससे भी महत्वपूर्ण क्या-क्या नहीं होता है। बिहार में 1999 में उजागर हुआ बी.एड. भ्रष्टाचार तो केवल एक नमूना था। मुझसे पूछा गया था : कहाँ ऐसा नहीं हो रहा है? देश के हर नागरिक को यह विश्वास तो करना ही होगा कि यदि गंगोत्री से स्वच्छ-निर्मल निकली गंगा—स्वार्थवश प्रदूषित की गयी - की निर्मलता को पुनः स्थापित करने के लिए देश कठिबद्ध है, तो उस स्तर पर शिक्षा की गंगोत्री कहलानेवाले शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों की निर्मलता पुनः वापस लाई जा सकती है—इस विश्वास को बड़े स्तर पर स्थापित करना होगा। ऐसा सम्भव है और करना ही होगा। हम ऐसे अध्यापक तैयार करें, जो व्यक्ति को व्यक्तित्व में बदल दें।

2.3 भारत की जनसंख्या आज से तीन दशक पहले तक—विकसित देशों की आँख की किरकिरी रही है। आज स्थिति बदल गयी है। भारत युवाओं का देश बन

गया है। 60 करोड़ लोग 35 वर्ष से कम आयु के हैं। 54% भारतीय 25 वर्ष से नीचे के आयुर्वर्ग में हैं। दुनिया के अनेक देश—विशेषकर विकसित देश—भारत के युवाओं से अपेक्षा कर रहे हैं कि वहाँ की कार्यकारी आयुर्वर्ग की अनुपलब्धता को भारत के युवा आकर पूरा करेंगे। आर्थिक क्षेत्र में इससे भारी सम्भावनायें उभरती हैं। यदि भारत की शिक्षा व्यवस्था दृढ़ निश्चय करे, शिक्षा की गुणवत्ता तथा कौशल क्षमता अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ले जाये तो भारत के लिए विश्व पटल पर दरवाजे और खुलेंगे। भारत की संस्कृति इतिहास तथा ज्ञानार्जन की परम्परा और भी फैलेगी, भारत में लोगों की रुचि बढ़ेगी और इस प्रकार वैशिक भाईचारा तथा शान्ति स्थापना के प्रयास में कुछ योगदान तो होगा ही। एक अनुमान के अनुसार 2025 तक 30 करोड़ भारतीय युवा कार्यकारी वर्ग में प्रवेश करेंगे। और यह विश्व के ऐसे लोगों युवाओं का एक-चौथाई होगा।

2.4 मुक्त शिक्षा, पर्यावरण के पक्ष

संचार तकनीकी ने शिक्षा के क्षेत्र में अभूतपूर्व तथा क्रान्तिकारी परिवर्तन किये हैं। सम्पर्क तथा सुलभता अपनी जगह अति महत्वपूर्ण है और इसकी उपलब्धता समाज के बड़े वर्ग तक पहुँची है जो अत्यन्त सन्तोषप्रद स्थिति कही जायेगी। इससे भी बड़ी वैज्ञानिक उपलब्धि है सूचना, साहित्य, संस्कृति के अपार कोष की सार्वभौमिक उपलब्धता। भारत में यह एक सन्धिकाल है : आज हर वर्ग, हर सम्प्रदाय, हर परिवार अपने बच्चों—लड़कों और लड़कियों—के न केवल शिक्षा देने को तैयार है मगर वह अच्छी गुणवत्तावाली शिक्षा की माँग कर रहा है। दूसरी ओर शिक्षा की उपलब्धता बढ़ रही है, समय और स्थान के बन्धन टूट चुके हैं, हर आयुर्वर्ग के लोग नया ज्ञान, जानकारी, कौशल प्राप्त कर सकते हैं, सीख सकते हैं। मुक्त स्कूलों, मुक्त विश्वविद्यालयों, आन-लाइन पाठ्यक्रमों ने अनेकों के जीवन को सँवारा है, उन्हें आत्मविश्वास तथा मानवीय अस्मिता प्रदान की है। भारत में इस सबके उपयोग में अभी बड़ी जनसंख्या को अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं, परन्तु आशा करनी चाहिए यह कठिनाइयाँ समाप्त होंगी—जब बिहार के हर गाँव—शहर में चौबीस घंटे बिजली उपलब्ध होगी—गुजरात में ऐसा हो चुका है। यहाँ यह सम्भावना भी उभरी है कि भारत की सही जानकारी अब ऑनलाइन सारे विश्व में उपलब्ध कराई जा सकती है, भारत की संस्कृति के प्रति उत्सुकता तथा उत्साह को बढ़ाया जा सकता है। जो भ्रामक सूचनायें अभी भी भारत के बारे में प्रचलित हैं, उन्हें दूर किया जा सकता है। भारत के प्राचीन चिन्तन की गहनता से विश्व का परिचय कराया जा सकता है। जो सभ्यता की सोच ‘ईश्वर अंश जीवन अविनाशी’ तक हजारों साल पहले पहुँच गयी थी, जो सर्वभूत हिते

रतः में सभी को शामिल करती थी, जिसने पशुओं और पेड़-पौधों, पर्यावरण को जीवन का आधार मानकर महत्त्व दिया था—वह प्रकृति से आत्मीय नाता जोड़कर ही आगे बढ़ी थी। यदि इस भारतीय दृष्टिकोण को विस्तार मिला होता, विश्व ने इसे समझा होता तो आज विश्व पर्यावरण महाविनाश की स्थिति में नहीं पहुँचा होता, जलवायु परिवर्तन, ग्लोबल वार्मिंग जैसी समस्यायें पैदा नहीं होतीं। महाराष्ट्र में पूरा गाँव वर्षा में भूखलन से काल कवलित नहीं होता—उत्तराखण्ड—केदारनाथ धाम की त्रासदी भी नहीं होती। इस सबको रोकने की एक ही सम्भावना है—ऐसी शिक्षा जो मानव तथा प्रकृति के नैसर्गिक सम्बन्धों को भावी पीढ़ी में पुनःस्थापित कर सकती है। विश्वशान्ति की पहली आवश्यकता तो यही है कि भावी पीढ़ियाँ स्कूलों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों में मनुष्य और प्रकृति के बीच सद्भाव, समन्वय और शान्ति स्थापित करना आवश्यक मानें। यहाँ यह याद करना समीचीन होगा कि 13 जुलाई, 2004 को भारत के सर्वोच्च न्यायालय की एक खण्डपीठ ने यह आदेश दिया था कि पर्यावरण शिक्षा को अलग स्वतन्त्र विषय के रूप में कक्षा एक से बारह तक पढ़ाया जाय। न्यायालय के दिसम्बर 2003 के आदेश पर एनसीईआरटी ने पर्यावरण शिक्षा का पाठ्यक्रम बनाकर न्यायालय को मार्च 2004 को प्रस्तुत किया था। न्यायालय ने उसे सारे राज्यों को भेजा। एक अभूतपूर्व स्थिति बनी, जब वह पाठ्यक्रम हर राज्य/यूटी ने पूरी तरह स्वीकार किया—न्यायालय ने उस पर मुहर लगा दी। इसे लागू नहीं किया गया—यदि किया गया होता तो दस साल बाद एक ऐसी युवा पीढ़ी तैयार हो गयी होती जो आज की सबसे चिन्ताजनक समस्याओं के समाधान के लिए सक्षम होती। अपरिमित ज्ञान भण्डार की उपलब्धता के साथ उसकी प्रकृति तथा विषयवस्तु भी ठोस वैज्ञानिक तथा ज्ञानयुक्त नींव पर आधारित हो तो मानव के जीवन को सँवारने के दरवाजे औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा द्वारा खुलते हैं।

सम्भावनायें अनंगिनत हैं, समाज अपनी जिम्मेवारी उठाने को तैयार है, सरकार आगे तो आये।

3 समाधान

3.1 जोड़ें टूटी कड़ी

आचार्य पतंजलि ने उन चार स्रोतों/सोपानों/अवस्थाओं का वर्णन किया है, जिनके द्वारा विद्या/ज्ञानार्जन/शिक्षा प्राप्त कर व्यक्ति “मनुष्य की संकल्पना” के अनुरूप बन सकता है, जीवन-निर्वाह के कौशल और जीवन-लक्ष्य प्राप्ति के आयाम समझ सकता है, अभीष्ट मार्ग पर अग्रसर हो सकता है :

1. अपने माता-पिता तथा आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करो।
2. स्वयं अध्ययन कर ज्ञान में वृद्धि करो।

3. महत्त्वपूर्ण ज्ञान को दूसरों को प्रदान करो—अर्थात् माता-पिता के रूप में अपनी सन्तान को अध्यापक के रूप में अपने छात्रों को, अथवा अन्य किसी रूप में दूसरों को।
4. ज्ञान का उपयोग परिवार के लाभ के लिए अपने व्यापार, पेशे या रोजगार से समाज को लाभ पहुँचाने के लिए करो।

आचार्य पतंजलि यही उपदेश भी देते हैं कि जीवन-भर सतत शिक्षा ग्रहण कर अपना ज्ञान/कौशल बढ़ाते रहना चाहिए। प्राचीन—पहले की पीढ़ियों द्वारा अर्जित ज्ञान को भी भावी पीढ़ियों तक इस अनुशासन/आदेश के साथ दिया जाय कि ज्ञान सम्पदा में वृद्धि करना, उसके उपयोग के नए क्षितिज खोजना उनका उत्तरदायित्व है। यह हर वर्तमान पीढ़ी का पवित्र/आवश्यक उत्तरदायित्व है। भारत में यह कड़ी टूट गयी थी। हमने भारतीय शास्त्रों की ज्ञान परम्परा को “हिन्दू” शब्द के ‘सेक्यूलरिज्म’ के राजनीतिक विवेचना के अन्तर्गत अस्पृश्य घोषित कर दिया। ज्ञान के वितरण, संवर्धन तथा वृहत्तर उपयोग की वह कड़ी टूट गयी। केवल विदेशी शासकों ने ही इसे तोड़ने में पहल नहीं की, स्वतन्त्र भारत में सरकारी तन्त्र ने इसे सोची-समझी नीति के अन्तर्गत जड़मूल से उखाड़ने का प्रयास किया। आज की पीढ़ी को पश्चिम में विकसित विज्ञान, तकनीकी, संचार तकनीकी को जानाना, उसका उपयोग करना आवश्यक है। मगर सारा विज्ञान पश्चिम में ही विकसित हुआ हो, खोजा गया हो, ऐसा तो नहीं है। आज हमारे लिए क्या चाणक्य के अर्थशास्त्र का कोई महत्त्व नहीं है? क्या वह निर्देश आज लागू नहीं किया जाना चाहिए कि राजा/शासन कर संग्रह उसी तरह करे जैसे मधुमक्खी फूलों से शहद इकट्ठा करती है? सभी—खुश, फूल भी प्रसन्न मधुमक्खी भी कर्तव्य-तुष्ट और उपयोग करनेवाला मनुष्य भी सन्तुष्ट। क्या यह सूत्र पन्थ निरपेक्षता को प्रभावित करता है? क्या यह समाज में सद्भाव को क्षति पहुँचाता है? बोधायन, कणाद, भाष्कराचार्य, जैसे नाम क्या हमारे सभी युवाओं में कोई प्रेरणा-स्पन्दन उत्पन्न करते हैं? नहीं, क्योंकि हमने उन्हें इससे परिचित ही नहीं कराया। हमने शिक्षा में माता-पिता के उत्तरदायित्व को महत्त्व देना अवैज्ञानिक माना—शिक्षा केवल परीक्षा के अंकों तक सीमित हो गयी—व्यक्ति के निर्माण के अन्य पक्षों को भूल गये और सारी शक्ति युवा को जीविकोपार्जन के योग्य बनाने में लगा दी। जीविकोपार्जन आवश्यक है, परन्तु कुछ और भी आवश्यक था, जिसे प्राप्त करना भी आवश्यक है। भारत की नई शिक्षा नीति, नई पाठ्यक्रम संरचना, नई पाठ्यपुस्तकें, नई अध्ययन-अध्यापन पद्धतियाँ सुदृढ़ आधार तभी पा सकती हैं, जब इन्हें भारत की जड़ों से जोड़ा जाय, भारत की प्राचीन संस्कृति से जोड़ा जाय तथा इस संस्कृति पर, उसी की गतिशीलता तथा नवाचार ग्रहण करने के आत्मविश्वास से जो परिवर्तन हुए तथा समृद्धि आयी उसे भी नजरअन्दाज न किया जाये।

3.2 कौशल, कलाकार कृतिकार

3.2 उपलब्ध ज्ञान तथा तकनीकी विधाओं की प्राथमिकताओं पर पुनर्विचार करना आवश्यक है और ऐसा तभी होगा, जब प्रारम्भ से—स्कूलों में—बच्चों को जो पाठ्यक्रम पढ़ाया जा रहा है उसे वे लोग निरखे-परखें, जो पश्चिम के अन्धानुयायी नहीं हैं, जो भारत की ज्ञान परम्परा से परिचित हैं, उसके महत्व को जानते हैं। एलोपैथी तथा आयुर्वेद को लें। पराधीन भारत में आयुर्वेद को महत्व देना सरकारी तन्त्र में असम्भव था—क्योंकि वेद उनके लिए गड़ियों के गीत थे। आज कृषिप्रधान कहे जानेवाले, भारत को गाँवों में बसा हुआ कहनेवाले यह देखकर कहाँ-न-कहाँ तो आहत होते हैं कि अब आयुर्वेद, यूनानी तथा सिद्धा “वैकल्पिक प्रणाली” हैं, प्राथमिकता तो एलोपैथी की ही है—परिणामस्वरूप वहाँ पर सारी प्रगति बोध तथा निवेश है, आयुर्वेद सरकारी प्राइमरी स्कूल जैसा है, जो निजी ‘पब्लिक स्कूल’ के सामने कैसे ठहर सकता है? आज देश के कितने जाने-माने पब्लिक स्कूलों के बच्चे कृषि सम्बन्धित जानकारी प्रारम्भिक स्तर पर पाते हैं? भारत की ज्ञान परम्परा को गाँधी ने पहचाना था—हाथ से काम, उद्योग द्वारा शिक्षा—समाज का पूर्ण सहयोग तथा स्वामित्व। शिक्षा को समग्रता में देखें—पाठ्यक्रम तथा इतर-पाठ्यक्रम जैसे विभाजन कभी भी हस्त कौशलों को सम्माननीय नहीं बना पाते हैं। स्थानीयता, स्थानीय संर्दंभ से परिचय आवश्यक है मगर उससे आगे आवश्यक है, कला, उद्यम से जुड़े लोगों को स्कूल से जोड़ना, कौशल कैसे भी प्राप्त किया गया हो, घर में परम्परागत ढंग से या किसी कार-सुधार कार्यशाला में : व्यवस्था को उसका सम्मान करना चाहिए। अनावश्यक प्रतिबन्ध लगाकर उसे कुठित करने का कार्य अब बन्द करना होगा। ऐसे हर युवा को प्रोत्साहन देने की—सुधार करने तथा सँवारने की— सुविधा उपलब्ध कराना समाज तथा सरकार का उत्तरदायित्व होना चाहिए। यदि प्रारम्भ से—स्वतन्त्रता के बाद—हर प्राइमरी स्कूल से स्थानीय सर्जक/ कलाकार/ कृतिकार जुड़ जाते तो शिक्षा ही नहीं, समाज में भी उसका प्रभाव अनेक प्रकार से दिखाई देता। मिट्टी, लोहे, चमड़े, लकड़ी, चटाई बनाना, रंगकर्म—गाँव के स्तर पर यह कार्य अधिकांशतः वे करते रहे हैं, जिन्हें समाज के ऊँचे वर्ग में नहीं माना जाता था। यदि इन्हें स्कूल में बुलाकर बच्चों को स्थानीय कौशल सिखाने का काम कराया जाता तो बच्चे उन्हें ‘उस्ताद जी’ या गुरुजी ही मानते, जब वे बड़े होते तो गाँव का माहोल बदल जाता—सामाजिक समरसता की जड़ें—जो भारत में सदा से सशक्त रही हैं—और दृढ़ हो जातीं। भारत के गाँव शायद स्थानीय तथा बाहर से थोपी गयी भेदभाव की राजनीति से मुक्ति पा लेते। आज इस वर्ग के अतिरिक्त भी लगभग हर स्कूल के आस-पास किसी-न-किसी विषय या कौशल के ज्ञाता सेवानिवृत्त अनुभवी व्यक्ति उपलब्ध हैं। इनमें से अधिकांश किसी भी

स्कूल या सामाजिक संस्था से जुड़कर प्रसन्न होंगे। स्कूल यदि इस ज्ञान-कौशल के खजाने का उपयोग करें तो भारतीय शिक्षा की गुणवत्ता तथा उसकी साख निश्चित रूप से ऊँची होगी। सरकारी स्कूलों की साख लौटाकर उस अन्धी-दौड़ की गति कम की जा सकती है—जिसके कारण निजी स्कूलों द्वारा लगातार निर्बाध रूप से बढ़ाया जा रहा शिक्षा का व्यापारीकरण बढ़ाता ही जा रहा है।

कौशलों के सम्बन्ध में ‘मेक इन इण्डिया’ को दोहरायें तो यह कहा जा सकता है कि इसकी सफलता के लिए ‘मेक इन स्कूल’ को आगे बढ़ाकर दीर्घकालीन निर्माण/उत्पादन की संस्कृति को घर-घर में जगह देकर हर स्तर पर उत्पादकता की गुणवत्ता को सुधारा जा सकता है। जापान ने अपनी अपमानित तथा ध्वस्त स्थिति से निकलने का यही रास्ता अपनाया था—आज उनके उत्पादों की गुणवत्ता विश्व-भर में मान्य है। इसके लिए निवेश आवश्यक था, मगर आधार तो स्कूलों और घरों में ही बना था। यदि हमने गाँव की आत्मनिर्भरता के आशय को समझा होता तो आज इस देश में कोई भूखा नहीं सोता, न कोई बेरोजगार होता। आवश्यकता है कि हम केवल शिक्षा राष्ट्र प्रेम, सशक्त कार्य संस्कृति तथा समय के सदुपयोग के पाठ न केवल पढ़ायें मगर उन्हें आत्मसात करायें।

3.3 भाषा और शिक्षा का माध्यम

भारत की शास्त्रविमुखता को बढ़ाने में भाषा नीति भी बड़ी सीमा तक जिम्मेवार रही है। संस्कृत वह भाषा है, जिसे कम्प्यूटर के लिए सर्वोपयुक्त माना गया है। इस कारण उसकी वैज्ञानिकता पर प्रश्न नहीं लगाया जा सकता है। यह वह भाषा है, जिसका व्याकरण शब्द-विन्यास बदला नहीं है। संस्कृत का आज अध्ययन करनेवाला कोई भी व्यक्ति हजारों साल पहले लिखे गये/बनाये गये/ कहे गये वाङ्मय का बिना कठिनाई से अध्ययन कर सकता है। अग्रेजी जानेवाला चार सौ वर्ष पहले के लिखे को समझने में भी पसीना बहायेगा। एक वर्ग इसे आधुनिकता से जोड़ेगा और संस्कृत की अपरिवर्तनशीलता को जड़ता—डेट लैंग्वेज—कहेगा। ऐसा अज्ञानवश ही होगा। पश्चिमी देशों में—योरप में विशेषकर—क्या कोई बिना ग्रीक/लैटिन से परिचय प्राप्त किये क्या डॉक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक बन सकता है? जैसे भारत को समझना बिना महाभारत और रामायण पढ़े सम्भव नहीं है, वैसे ही भारत की ज्ञान परम्परा को जानने-समझने के लिए संस्कृत या पाली, प्राकृत, तमिल—को जानना आवश्यक है। ऐसा तभी सम्भव होगा, जब भारत अपनी भाषा नीति में इस आवश्यकता को समझे तथा तदनुसार परिवर्तन करे। यहाँ पर यह प्रश्न भी उठेगा कि प्रारम्भिक स्तर पर शिक्षा का माध्यम क्या हो ? कोई भी विकसित देश ऐसा नहीं है, जहाँ मातृभाषा को नकारा गया हो।

भारत में अंग्रेजी माध्यम की ओर जो दौड़ प्रारम्भ हुई है, वह भारतीयों को भारत से जोड़ने में तो कर्तव्य सहायक नहीं है। अंग्रेजी माध्यम के पक्ष में बोलनेवाले केवल कुछ पक्ष देखते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि अंग्रेजी को कार्यकारी भाषा—या गहन अध्ययन की भाषा के रूप में 11-12 साल के बाद भी सीखा जा सकता है तथा अभीष्ट प्रवीणता प्राप्त की जा सकती है।

क्या अंग्रेजी माध्यम की दौड़ केवल समाज को दो हिस्सों में बँटा रहने देने/ या बँटने की प्रवृत्ति का व्यवहारीकरण है? नीति निर्धारकों को इस पर विचार करना होगा—किसी भी सभ्यता तथा संस्कृति की गतिधारा को जानने का रास्ता तो भाषा ज्ञान ही हो सकता है। अपनी भाषा को छोड़कर किस राष्ट्र ने प्रगति की है?

3.4 आदर्श/आइकान की खोज

शिक्षा सुधारों की बड़ी लम्बी सूची बनाई जा सकती है, सरकारें बनाती हैं—प्रकाशित करती हैं। अनेक सफलतायें अंकों द्वारा दर्शाई जाती हैं और यह आँकड़े कई बार सही भी होते हैं। सरकारें यह कभी नहीं बताती हैं कि कमियाँ कहाँ रह गयीं, नैतिकता क्यों घट रही है, कदाचरण, शिक्षित व्यक्तियों में ही, क्यों फल-फूल रहा है। हिंसा, अविश्वास क्यों बढ़ रहे हैं? शिक्षा सुधार परिणाम क्यों नहीं देते हैं? मूल रूप से कौन से सुधार हुए हैं इस पर मतभेद होते ही हैं। मनुष्य को मनुष्य बनाने का अर्थ समझे बिना “मैन मेकिंग एजुकेशन” का अर्थ कर पाना सम्भव नहीं है। वैश्वीकरण का युग—अधिकाधिक धनोपार्जन का युग है—अतः शिक्षा इसी के लिए तैयार करे—अच्छा पैकेज, ग्रीन कार्ड से अधिक बड़ा लक्ष्य क्या हो सकता है। भारत जैसे देश के सामने यह बड़ी चुनौती है : क्या मनुष्य जीवन का लक्ष्य इतना सीमित है? हमारी सभ्यता में तो ऐसा नहीं था—यहाँ तो जीविकोपार्जन आवश्यक था, केवल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, कर्तव्यों के निर्वाह के लिए, संग्रह के लिए नहीं, लालचपूर्ति के लिए नहीं, प्रकृति को क्षति पहुँचाने के लिए नहीं। अतः शिक्षा की पूरी चर्या को मस्तिष्क के अलावा हथ और हृदय को भी तैयार करना होगा। हर युवा के सामने आचरण से आदर्श बननेवाले अध्यापक/आचार्य आने चाहिए, तैयार किये जाने चाहिए। अध्यापक यह अन्तरनिहित कर लें कि उसके हाव-भाव, बातचीत, चाल-चलन, पहनावा, रुचियाँ, अध्ययनशीलता, अन्य से व्यवहार, कर्मठता लगनशीलता—और भी बहुत कुछ बच्चे प्रतिदिन देखते हैं और चूँकि वे अध्यापक को श्रेष्ठ तथा अनुकरणीय मानते हैं अतः उसका अनुसरण करते हैं—भले ही अध्यापक यह देख न पा रहा हो। यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि आज तो फिल्मों तथा टेलीविजन तथा इंटरनेट की सर्वसुलभता ने बच्चों की बड़ी संख्या को नए प्रकार के ‘आइकान’ दे दिये हैं, अध्यापक को कौन

पूछता है? इसका अध्ययन किया जाना चाहिए कि अध्यापक क्यों इनके पीछे चला गया है। परिणाम यहीं निकलेगा कि अब अध्यापकों का उत्तरदायित्व पहले से अधिक बढ़ गया है—संचार तकनीकी ने मनोरंजन को व्यापार बनाकर उससे मनमाना धन उगाहने के तरीके सीख लिये हैं—फिल्म चलनी है तो ‘आइटम नम्बर’ अवश्य होगा—बच्चे उसकी नकल स्कूल के सांस्कृतिक कार्यक्रम में प्रस्तुत करेंगे—माता-पिता, अध्यापकगण और मुख्य अतिथि तालियाँ बजायेंगे—आयोजन सफल। यह साहस कौन करेगा कि आइटम नम्बर को दोहराना भारत की संस्कृति से परिचय नहीं कराता है।

जिस तेजी से विश्व बदल रहा है, उससे समस्याओं के तथा उनके समाधान के नए-नए आयाम उभर रहे हैं। भारत को अपनी शिक्षा व्यवस्था को नए ढंग से तराशना होगा, जिससे हर नागरिक भारतीयता के गौरव तथा वैश्विकता के गर्व से सम्पन्न हो सके।

आभार :-

इस आलेख में लेखक द्वारा तीन पुस्तकों से विचार तथा उद्धरण निःसंकोच लिए गये हैं। तीनों की भूमिका लिखने का अवसर लेखक को मिला था।

1. पं. विद्यानिवास मिश्र, “अध्यापन भारतीय दृष्टि”, राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद्, एनसीटीई, नई दिल्ली, 1998
2. न्यायमूर्ति रमा जोयिस, “मानव अधिकार तथा भारतीय मूल” राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद्, एनसीटीई, नई दिल्ली, 1997
3. आचार्य डॉ. प्रभु दयाल, अग्निहोत्री, “शिक्षा की भारतीय परम्परा; आदर्श और प्रयोग” राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद्, एनसीईआरटी, नई दिल्ली, 2002।

भारत में शिक्षा : अंग्रेजों के आने तक

शंकर शरण

भारतीय शिक्षा के अध्ययन की दृष्टि से 'लीटनर रिपोर्ट' एक प्रसिद्ध दस्तावेज है। इसे डॉ. जी. डब्ल्यू. लीटनर ने तैयार किया था। यह पहली बार सन् 1883 में प्रकाशित हुई थी।¹ प्राच्य-विद्या के विद्वान और बैरिस्टर डॉ. लीटनर पहले किंग्स कॉलेज, लन्दन में अरबी भाषा एवं मुहम्मदी कानून के प्रोफेसर रह चुके थे। फिर ब्रिटिश भारत सरकार की विशेष सेवा में शिक्षा आयोग के साथ नियुक्त होकर उन्होंने यह रिपोर्ट तैयार की। बड़े पन्नों और महीन प्रिंट में लगभग साढ़े पाँच सौ पन्नों की यह रिपोर्ट एक बहुमूल्य दस्तावेज है। इसमें सन् 1849 से 1882 के बीच पंजाब में शिक्षा की स्थिति पर अद्भुत जानकारियाँ भरी मिलती हैं।

वस्तुतः इसमें भारत के बहुत बड़े हिस्से की जानकारी है, क्योंकि तब का पंजाब पूरब में आज के उत्तर प्रदेश की सीमा से लेकर पश्चिम में ईरान तक, तथा दक्षिण में राजस्थान सीमा से लेकर उत्तर में तिब्बत एवं लगभग रूस को भी छूता था। अर्थात् आज के पाकिस्तान का लगभग पूरा हिस्सा तथा वर्तमान भारतीय पंजाब के साथ-साथ हरियाणा, हिमाचल प्रदेश तथा दिल्ली—यह सम्पूर्ण इलाका पंजाब था, जब 1849 में अंग्रेजों ने इस पर कब्जा किया था। उन्होंने प्रशासनिक दृष्टि से पंजाब को 10 डिवीजन², 32 जिलों में और कुल 360 थानों में बाँटा था।

उस समय सन् 1882 में इस सम्पूर्ण इलाके के प्रत्येक थाने के गाँव-गाँव में कितने और कितने तरह के पारम्परिक विद्यालय (पाठशाला, वैश्य-शाला, मदरसा, मकतब तथा गुरुमुखी विद्यालय) थे, उस सब में कितने विद्यार्थी, कितने शिक्षक, उनमें क्या पढ़ाया जाता था, प्रमुख पाठ्य-पुस्तकों और प्रमुख शिक्षकों के नाम, शिक्षकों को होनेवाली आय, शिक्षकों की योग्यता और अकादमिक उपलब्धियाँ, शिक्षा माध्यम और

प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान, बड़ौदा विश्वविद्यालय, सम्पर्क: 4/44, एन. सी.ई.आर.टी.आवास, श्री अरविन्दो मार्ग, नई दिल्ली -110016।

लिपि, यहाँ तक कि उन लिपियों के नमूने तथा पाठ्य पुस्तकों में दिए गए पाठ के उदाहरण तक इस रिपोर्ट में दर्ज हैं। अर्थात् वह शिक्षा, जो अंग्रेजों के कब्जे से पहले पंजाब में चल रही थी, और अब अंग्रेजी राज के कारण छींकर कमजोर हो रही थी। जिस परिश्रम और निष्ठा से विद्वान लीटनर ने यह रिपोर्ट कठिन परिस्थितियों और खराब स्वास्थ्य के साथ बहुत कम समय में, अल्प साधनों से तैयार की—वह आज किसी भी आधुनिक शोधकर्ता को लजा सकता है। यह दिखाता है कि शोध के लिए, बल्कि किसी भी सामाजिक कार्य के लिए, साधनों से अधिक भावना और निष्ठा की आवश्यकता होती है।

प्राच्य विद्याविद् होने के कारण लीटनर यह पहले से जानते थे कि शिक्षा के प्रति विशेष आदर पूरब के लोगों की एक अपनी पहचान रही है। इसलिए उन्होंने बड़ी गम्भीरता और सावधानीपूर्वक सारी जानकारियाँ इकट्ठा करने की कोशिश की। चैकि यूरोपियनों ने भारतीयों को युद्ध में हराकर ऐसे इलाकों पर अधिकार किया था, इसलिए उनमें से बहुतों को यह सरासर गलतफहमी भी रहती थी कि यूरोपियन हर बात में भारतीयों से श्रेष्ठ हैं। राजनीतिक व्यवस्था, धर्म-दर्शन, ज्ञान-शिक्षा, आदि में भी। लीटनर इस दंभ से मुक्त थे। पूरबी ज्ञान के प्रोफेसर रहे होने के कारण उन्हें कई मामलों में पूरब के लोगों की विशिष्ट क्षमता और उपलब्धियों का अन्दाजा था। इसीलिए, शिक्षा की स्थिति का आकलन करते हुए उन्होंने अधिक-से-अधिक वास्तविक जानकारियाँ हासिल करने की कोशिश की। किसी पूर्व-धारणा से ग्रस्त होकर पंजाब की देशी शिक्षा-व्यवस्था पर जैसे-तैसे कोई रिपोर्ट नहीं लिखी। इसीलिए यह एक बहुमूल्य दस्तावेज है।

इस रिपोर्ट का सन्दर्भ यह था कि पंजाब पर कब्जे के बाद नई अंग्रेजी सरकार ने एक शिक्षा विभाग बनाया। यूरोपीय शैली का एक कॉलेज खोला, तथा एक विश्वविद्यालय बनाया। इन उच्च-शिक्षा संस्थानों को उपयुक्त शिक्षार्थी मिलें, इसके लिए प्रत्येक जिले में एक जिला स्कूल खोला। इस बीच सरकार ने एक नया टैक्स लगाया 'विलेज एजुकेशन सेस', जिसके साथ घोषणा की गई कि इस धन से हरेक गाँव में प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी, तथा जहाँ पहले से विद्यालय चल रहे हैं, उन्हें आर्थिक सहायता दी जाएगी। मगर नए खुले शिक्षा विभाग के अंग्रेज अधिकारियों को पंजाब में पहले से चल रहे विद्यालयों से प्रतिदंदिता महसूस होती थी। साथ में यह स्वार्थ भी था कि शिक्षा के मद का धन इन पारम्परिक देशी विद्यालयों को न जाए, और केवल नए सरकारी स्कूलों को ही उसका लाभ मिले। फिर यह अहंकार तो था ही कि उन देशी विद्यालयों की शिक्षा नए खुले यूरोपीय मॉडलवाले स्कूलों के सामने हीन होगी। इसीलिए उनकी क्या परवाह करना! इसीलिए नया शिक्षा विभाग दो दशक बीत जाने पर भी अपनी सरकार को पंजाब के देशी विद्यालयों का

विवरण नहीं दे सका। तब सरकार ने नया शिक्षा आयोग बनाकर प्रो. लीटनर को यह कार्य सौंपा कि वे सारा विवरण जल्द-से-जल्द इकट्ठा कर सरकार को दें, ताकि ‘विलेज’ एजुकेशन सेस’ के साथ किया गया वादा पूरा किया जाए, और गाँव-गाँव के पारम्परिक विद्यालयों को सहायता दी जाए।

मगर काम शुरू करने पर लीटनर ने अनेक तरह की कठिनाइयाँ पाई। सबसे पहले तो यही कि प्रायः सभी इलाकों में पारम्परिक विद्यालय यह चाहते ही नहीं थे कि सरकार उन्हें कोई ‘सहयोग’ दे। पाठशालाएँ, मदरसे, मकतब, वैश्य-शालाएँ और गुरुमुखी विद्यालय पंजाब के गाँव-गाँव में स्वयं संचालित थे। उनकी इच्छा विदेशी शासन के हस्तक्षेप से बचने की थी, क्योंकि उनके विद्यालय पारम्परिक रूप से स्वयं अच्छी तरह चल रहे थे। वे योग्य शिक्षकों द्वारा स्थानीय लोगों की रुचि और आवश्यकता के अनुसार सफलतापूर्वक चल रहे थे। उन शिक्षा संस्थानों का संचालन, निदेशन प्रायः सबसे अग्रणी सम्मानित लोगों द्वारा होता था। इसीलिए जब सरकारी विभाग के कर्मचारी पूछ-ताछ करते तो उन्हें सन्देह होता कि इसके पीछे कोई हितकरी भावना नहीं होगी। अतः वे पूरी जानकारी देने से कतराते थे, क्योंकि वे ब्रिटिश हस्तक्षेप से अपने विद्यालयों की रक्षा करना चाहते थे।

दूसरी ओर, सरकारी शिक्षा विभाग के अमले अहंकार, आलस्य और ईर्ष्यावश पारम्परिक विद्यालयों के बारे में पूरी या सही जानकारी इकट्ठा करने में अनिच्छुक थे। उसके बड़े अधिकारी अंग्रेज थे, जिनकी अपनी निजी उन्नति सरकारी उर्दू-अंग्रेजी स्कूलों की उन्नति से जुड़ी थी। इसलिए लीटनर को अपने निजी परिश्रम से विविध स्रोतों से अनेक जानकारियाँ एकत्र करनी पड़ीं। फिर भी उनका अनुमान था कि विद्यालयों, शिक्षकों, विद्यार्थियों की संख्या के बारे में उन्हें पूरी जानकारी नहीं हो पाई। अर्थात्, रिपोर्ट में सन् 1882 के पंजाब में इनकी जो संख्या आई है, वास्तव में उससे अधिक विद्यालय, विद्यार्थी और शिक्षार्थी वहाँ थे। यद्यपि यह बिलकुल साफ़ था कि 1849 की तुलना में उनकी संख्या घटी थी, और लगातार घटने की दिशा ही दिख रही थी।

पारम्परिक विद्यालयों की संख्या और गुणवत्ता भी गिरने का एक बड़ा कारण स्वयं वह ‘अनुदान’ भी था, जो अब नई ब्रिटिश सरकार ने उन्हें देने की नीति बनाई थी। पहले पूरी तरह स्थानीय समाज द्वारा संचालित होने के कारण शिक्षकों की आय उनकी योग्यता और कार्य की गुणवत्ता पर निर्भर थी। अब सरकारी वेतन की शुरुआत ने शिक्षकों को उस पारम्परिक गुणवत्ता एवं कार्य आधारित आय से स्वतन्त्र करना आरम्भ कर दिया। इससे विद्यालयों के संचालन में स्थानीय समाज की भूमिका भी धीरे-धीरे घटने लगी। न केवल धन की व्यवस्था, बल्कि शिक्षा के विषय, पाठ्य-सामग्री आदि भी दूर बैठे किन्हीं अधिकारियों और विजातीय लोगों द्वारा तय होने लगी। शिक्षा

अपने समाज से दूर होकर राज्य-तन्त्र से जुड़ने लगी; अपनी सरसता छोड़कर रखी, यान्त्रिक, कागजी सटिफिकेट वाली प्राणहीन शिक्षा की ओर बढ़ने लगी। इस तरह, वह ‘सुन्दर वृक्ष’³ उजड़ने लगा, जिसके रूपक से गाँधी जी ने भारतीय शिक्षा अंग्रेजों के हाथों नष्ट होने का सही आरोप लगाया था। लीटनर की यह रिपोर्ट इसकी प्रामाणिक, चित्र-लिखित झलक देती है।

लीटनर के अनुसार भारतीय समाज में शिक्षा का आदर इतना अधिक था कि हर तरह के लोग दुष्ट प्रधान से लेकर, लोभी महाजन, यहाँ तक कि युद्ध-लुटेरे तक विद्यानों का आदर करने में बढ़-चढ़कर प्रतियोगिता करते थे। इससे आत्मिक सुख होता था। ऐसा कोई मन्दिर, मस्जिद, धर्मशाला न था, जिसके साथ कोई स्कूल जुड़ा हुआ न हो। वहाँ बच्चे और युवा खुशी-खुशी पढ़ने जाते थे। वे स्कूल मुख्यतः धार्मिक शिक्षा देते थे। किन्तु हजारों सेक्यूलर स्कूल भी थे, जिसमें मुसलमान, हिन्दू और सिख—समान रूप पढ़ने जाते थे। उन स्कूलों में फारसी और लुन्द(Lunde) लिपि की पढ़ाई होती थी। फिर, ऐसा कोई धनी न था, जो निजी रूप से किसी-न-किसी मौतवी, पंडित या गुरु को अपने यहाँ नियुक्त न रखता हो, जो उसके बच्चों के साथ-साथ पास-पड़ोस और उसके मित्रों, सम्बन्धियों के बच्चों को भी पढ़ाते थे। इसके अलावा सैकड़ों विद्यान भी स्वेच्छा से समाज सेवा के रूप में भगवान का कार्य, ‘लिल्लाह’ समझकर विद्यादान करते थे। साथ ही गाँव का कोई आदमी न था, जो खुशी-खुशी अपनी आय का कोई हिस्सा किसी सम्मानित शिक्षक को देकर गर्व न महसूस करता हो।

सन् 1849 में, जब अंग्रेजों ने वहाँ कब्जा किया, पंजाब में कम-से-कम 3 लाख 30 हजार विद्यार्थी देशी शिक्षा और उच्च शिक्षा-संस्थानों में थे। वह संख्या 1882 में घटकर 1 लाख 90 हजार रह गई। वे विद्यार्थी पढ़ना-लिखना तथा किसी-न-किसी क्षमता तक गणित जानते थे। उनमें हजारों विद्यार्थी अरबी और संस्कृत महाविद्यालयों से जुड़े थे, जहाँ पूरबी साहित्य कानून, दर्शन, तर्कशास्त्र और आयुर्वेद की पढ़ाई होती थी। उन संस्थानों में दसियों हजार विद्यार्थी फारसी में इतने प्रवीण थे, जो सरकारी और सरकारी सहायता प्राप्त स्कूल-कॉलेजों में दुर्लभ थी। उन देशी शिक्षा संस्थाओं में एक निष्ठा का वातावरण था, जो किसी सांसारिक लाभ के लिए नहीं, बल्कि ज्ञान-प्राप्ति मात्र, चरित्र निर्माण और सुंसस्कृत, धर्म-निष्ठ होने के लिए थी। बनियों के लड़के भी अपने साधारण पांडा (शिक्षक) को अत्यन्त आदर से देखते थे, जो उन्हें बस वह मामूली शिक्षा (two'r's) के तत्त्व भर दे पाता था। जो बनिए लड़कों की जीविका के लिए बिलकुल जरूरी होती थी।

सन् 1874 में एक ब्रिटिश पार्लियामेंटरी रिपोर्ट (1874.C.1072 -II, Part III) ने भी पंजाब में देशी शिक्षा की स्थिति का आकलन किया था। डॉ. लीटनर ने इसे भी

विस्तार से उद्भूत किया है। इसके अनुसार, पंजाब में मुसलमानों और हिन्दुओं के लिए बड़ी संख्या में धार्मिक विद्यालय थे। इनमें पढ़ानेवाले मुख्यतः पुरोहित वर्ग के लोग थे, जिनमें कई बड़े प्राच्य-विद्याविद् माने जाते थे। इनमें मुख्यतः व्याकरण, धार्मिक साहित्य और शास्त्रीय भाषाएँ, अरबी और संस्कृत पढ़ाए जाते थे। कई विद्यालयों में फारसी, कलात्मक लेखन (कैलीग्राफी) तथा विशिष्ट वाणिज्यिक लिपि पढ़ाए जाते थे, जो केवल बनिए ही जानते-समझते थे। उन स्कूलों में अनुशासन नियमित उपस्थिति आदि के नियम कड़े नहीं थे। पार्लियामेंटरी रिपोर्ट के अनुसार, उन विद्यालयों की लोकप्रियता और उपयोगिता के मधेनजर सरकारी नियमों के अनुसार वे अनुदान पाने के दायरे में आते थे, किन्तु तब तक व्यवाहरतः केवल ईसाई मिशनरी स्कूलों को ही यह मिल रहा था।

अंग्रेजी शासन ने यह सब बदल डाला। पंजाब पर ब्रिटिश कब्जे के बाद आम लोग चिन्तित हो उठे। उनके पास जो कुछ मूल्यवान था, उसे आक्रामक विदेशियों से बचाकर, अलग दूर रखने की भावना पैदा हुई। लीटनर के अनुसार, यदि ब्रिटेन पर भी किसी ने कब्जा किया होता, तो वहाँ के सर्वश्रेष्ठ अंग्रेज लोग भी यही करते! पंजाब पर कब्जे के बाद आरम्भिक अंग्रेज अधिकारियों ने पंजाब के विजातीय वातावरण में कटिबद्ध होकर वे सुधार लागू करने शुरू कर दिए, जो यूरोप में भी कुछ खास अच्छे परिणाम नहीं दे सके थे। अर्थात् उन सुधारों से पंजाब के सहज विकास को मदद नहीं मिली। वह क्षेत्र पहले ही सम्भवात उन्नति की जिस अवस्था में था, उससे आगे बढ़ने की दृष्टि से कुछ नहीं हो सका। लेकिन अंग्रेज अधिकारी सन् 1857 के विद्रोह से सावधान और सशक्ति थे। इसलिए भी उन्होंने पूरी दृढ़ता से अपनी नई व्यवस्था कायम करने की कोशिशें कीं। इनमें परिणाम की दृष्टि से चाहे समय ही नष्ट हुआ, किन्तु अपनी दृढ़ता से उन्हें एक प्रतिष्ठा जरूर मिली। यही सरकार है, लोग ऐसा सहजता से मानने तरे।

इस बीच नए अधिकारी वर्ग को शासितों के बीच गर्ज-मन्द लोगों ने भी घेर लिया। उनमें अनेक उत्तर-पश्चिम प्रान्त के महत्वाकांक्षी, जोखिम-पसन्द लोग थे। उन लोगों की फारसी-उर्दू की जानकारी से अंग्रेज अधिकारियों ने वह बोली सीखी और इससे शासन चलाने में सुविधा होने लगी। साथ ही उन लोगों ने अंग्रेजों से टूटी-फूटी अंग्रेजी सीखकर सत्ता में एक स्थान बनाना शुरू कर दिया। वे लोग प्रायः समाज के मध्य एवं निम्न वर्गीय तबके के निकृष्ट लोग थे। लेकिन उनका सहयोग लेकर, और उन्हें सहयोग देकर अंग्रेजों ने अपनी स्थिति मजबूत की। तभी से शिक्षा में फारसी और संस्कृत के बदले उर्दू का वर्चस्व होने लगा। लेकिन उर्दू में शिक्षा की पर्याप्त व्यवस्था नहीं थी। इसलिए पंजाब में बौद्धिक अधिकार फैलने लगा। किन्तु इससे अंग्रेजों ने अपने विभिन्न विभागों का काम चलाने के लिए सस्ते मातहत एजेंट पाने का उपाय

कर लिया। लीटनर के अनुसार, शिक्षा विभाग कायम करने का एक उद्देश्य यह भी था।

वस्तुतः उर्दू की शिक्षा मुख्यतः यूरोपियों के लिए थी। लीटनर के अनुसार देशी लोग फारसी और संस्कृत को शिक्षा का विषय और माध्यम मानते थे। उर्दू तो बस फारसी के माध्यम से ऐसे ही उनके पास थी। लीटनर के शब्दों में, “उर्दू द्वारा फारसी का विस्थापन शिक्षा को बाधित करनेवाली बात मानी गई और भले लोगों की लिखित और मौखिक भाषा के रूप में फारसी चलन से बाहर होने लगी। हालाँकि गर्जमन्द और वे जो नए सत्ताधारियों को खुश करना चाहते थे, उन लोगों ने उर्दू और बाद में अंग्रेजों का स्वागत किया, क्योंकि इससे सरकारी नौकरियों तक पहुँचने का रास्ता बनता था। इस प्रकार हमने पहले शिक्षा का स्तर गिराया, जो पहले मानसिक और नैतिक संस्कृति उन्नत बनाने के लिए होती थी, वह अब महज दुनियावी लोभ-लालचवाली महत्वाकांक्षा पूरी करने के लिए होने लगी।” (‘इंट्रोडक्शन’, पृ. II)⁴

अंग्रेजों ने मौलियियों, पंडितों, ज्ञानियों को सन्देह से देखना शुरू किया, जिन्हें समाज में बड़े आदर से देखा जाता था। डॉ. लीटनर के विचार से अंग्रेजों को उन्हें अपने हित के साथ मिलाने की कोशिश करनी चाहिए थी। मगर जल्दबाजी में उलटा किया गया। उन पारम्परिक ज्ञानियों के साहित्य में जो कुछ भी यूरोपियन बुद्धि को अटपटा लगता था, उसे मूर्खतापूर्ण समझा गया। चूँकि सत्ताधारी ऐसा कर रहे थे, इसलिए समय के साथ लोगों के बीच उन ज्ञानियों, मौलियियों, पंडितों की प्रतिष्ठा कम होने लगी। “क्लासिकल भाषाओं (फारसी, संस्कृत) की शिक्षा के बिना देशी भाषाओं का विकास नहीं हो सकता था, मगर अब वे क्लासिकल भाषाएँ केवल कुछ पंडितों, मौलियियों, पुरोहित वर्ग के पास संकुचित होने लगी। किसी अच्छी सरकार द्वारा सामाजिक भलाई के लिए इनका उपयोग नहीं किया गया।” (‘इंट्रोडक्शन’, पृ. II)

बहरहाल, नए युग के वैज्ञानिक आविष्कारों और सत्ताधारियों की बढ़ती प्रतिष्ठा से लोगों में शिक्षा के प्रति दुविधा की स्थिति रही। फिर सरकार ने ‘शिक्षा टैक्स’ (एजुकेशन सेस) लगाया, और घोषणा की कि जो इलाके यह टैक्स देंगे, वहाँ शिक्षा की व्यवस्था की जाएगी। इससे उम्मीदें जर्गी, मगर वे पूरी नहीं हुईं। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में निराशा और क्षोभ उत्पन्न हुआ। शिक्षा टैक्स के नाम पहले ‘ग्रामीण शिक्षा टैक्स’ (विलेज एजुकेशन सेस) था, जो उत्तर-पश्चिम प्रान्तों से आया था। लीटनर कहते हैं कि देशी, भारतीय शासकों ने जनता के साथ जो भी जोर-जुल्म किया हो, उन्होंने यह कभी नहीं किया कि उनकी शिक्षा के नाम पर टैक्स लें, फिर उसे किसी और चीज में खर्च कर डालें। मगर नए अंग्रेज शासकों ने यह किया। “सन् 1857 में एजुकेशन सेस से प्राप्त आय 1,14,562 रु. थी, जिसमें से केवल 23,472 रु. ग्रामीण विद्यालयों पर खर्च हुए। सीमाप्रान्त में एक गाँव में टैक्स दिए जाने के बाद एक स्कूल की माँग की गई, जो

अस्वीकार किए जाने पर वहाँ गुस्सा भड़क गया, जिसे दबाने के लिए सैनिकों को भेजा गया।” (इंट्रोडक्शन, पृ.III) यह शिकायत लीटनर को कई स्थानों से मिली कि टैक्स देने के बाद भी वहाँ स्कूल नहीं खोले गए। इससे ग्रामीण जनता में नई सरकार के प्रति विश्वास को बड़ी चोट पहुँची। लीटनर ने सिफारिश की कि सरकार को इसे फिर से वापस पाने के लिए कदम उठाने चाहिए।

पंजाब के व्यापारी वर्ग के महत्वाकांक्षी लोगों ने सरकारी शिक्षा व्यवस्था को खुशी-खुशी स्वीकार किया। इससे उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ने की सम्भावना साफ दिख रही थी। फिर सरकारी सेवा में नौकरी पाकर लोगों पर, उन उच्चवर्ण के लोगों पर शासन करने का अवसर खुल रहा था, जो अब तक इन्हें नीची नजर से देखते थे। लीटनर के अनुसार, समाज के नैतिक और शैक्षिक दायित्व का भार भी इन ‘निम्न वर्गीय’ हिन्दुओं पर उतना नहीं था, जितना ‘उच्चवर्गीय’ हिन्दुओं पर। मगर मुख्य बात यह थी कि सरकारी शिक्षा प्रणाली को अपनाकर सत्ताधिकारियों का अंग बनकर एक नई उच्चजाति बनने की प्रेरणा इतनी आकर्षक थी, जिसे ठुकराना कठिन था। साथ ही शिक्षक पद से मुसलमानों को भी हटाने की भावना उतनी ही तीव्र थी, क्योंकि अभी तक पूरे प्रान्त में मुसलमान ही शैक्षिक रूप से अग्रणी थे। इस प्रकार, कम सम्मानित तथा कम अनुदार वर्गों ने उर्दू को शिक्षा का माध्यम बनाने का स्वागत किया। जिससे सत्ता से मिलनेवाले लोभ-लालच सीधे जुड़े हुए थे। इसीलिए जब और ऊँचे पदों के लिए अंग्रेजी मुख्य मार्ग बनी, तब इन निचले वर्गों के लोगों ने ही उत्साह से इसका स्वागत किया। क्योंकि यह राजनीतिक सत्ता में हिस्सा पाकर जनता में ब्राह्मणों को बौद्धिक नेतृत्व से हटाने का आसान मार्ग था।

इस तरह अंग्रेजों ने पहले पारम्परिक शिक्षा का विघटन किया, जिसमें धर्म-आचार का प्रमुख स्थान था। समाज के सम्मानित ज्ञानियों को सरकार की शिक्षा समितियों में स्थान नहीं दिया। फिर अब सामाजिक उथल-पुथल (Social bouleversement) करके, उन्नति पाने का ऐसा मार्ग खोला गया, जिसमें सरकार के समक्ष किसी की जन्मगत पारम्परिक प्रतिष्ठा के साथ-साथ ज्ञान, चरित्र, साहस आदि गुणों का भी कोई महत्व नहीं रहा! वह सरकार जो जनता के लिए भगवान के बाद सर्वशक्तिमान थी। सरकार ने उन गुणों को महत्व देने के बदले अधिक व्यावहारिक उपाय किया। भारतीयों के बीच के उन नए महत्वाकांक्षी तत्त्वों को साथ लेकर शासन चलाने की नीति अपनाई, जो आधिकारिक सत्ता का उपभोग करना चाहते थे।

यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि लीटनर ने यह रिपोर्ट 1882 में लिखी थी, जब 1857 के विद्रोह को अधिक समय नहीं बीता था। नई अंग्रेजी सत्ता द्वारा पारम्परिक भारतीय शिक्षा, फारसी-संस्कृत के ज्ञान-भंडार तथा वास्तविक ज्ञानियों शिक्षकों तथा प्रतिष्ठित, चरित्रवान लोगों को उपेक्षित करने की उनकी आलोचना को इसी रूप में

लेना चाहिए कि लीटनर इसे अंग्रेजी राज के हित में नहीं देख रहे थे। एक उदारवादी विद्वान के रूप में उन्हें महसूस हुआ कि किसी समाज को जीतने का उपाय, वहाँ के सर्वश्रेष्ठ लोगों को सरकारी योजनाओं, कार्यों में शामिल करना है। इससे समाज का सच्चा विकास होगा, और लोग सरकार को पसन्द करेंगे, न कि स्वार्थी तत्त्वों को साथ लेकर सरकार चलाना। मगर जैसा कि इतिहास ने दिखाय, उर्दू और अंग्रेजी द्वारा स्वार्थी किस्म की शिक्षा चलाकर और भारतवासियों के बीच एक अनुचर वर्ग का निर्माण करके अंग्रेजी सत्ता को लाभ ही हुआ। पारम्परिक भारतीय शिक्षा को ध्वस्त करके उन्होंने वास्तव में भारतीय समाज का नैतिक विघटन भी किया, जिससे भारतवासी लम्बे समय तक निर्बल हो गए, और यूरोपियनों का अनुकरण करके अंग्रेजी-शिक्षित भारतीय अपने देशवासियों से अलग होकर उन पर स्वार्थी भाव से काबिज हो गए। यह अब तक चल रहा है। इसलिए लीटनर की आलोचना को तात्कालिक सन्दर्भ में तथा उनके अपने उदारवादी रुख के साथ देखना चाहिए। हमारे लिए, अभी इन सब तथ्यों का मुख्य सन्दर्भ डेढ़ सौ वर्ष पहले भारत की अपनी शिक्षा-व्यवस्था के बारे में जानना भर है।

बहरहाल, व्यापारी वर्ग के सामान्य लोग तो तब भी अपने पारम्परिक पांडा (Pandhas) से शिक्षा प्राप्त करते रहे। साथ ही वे सरकारी एवं ईसाई मिशनरी स्कूलों में भी जाते थे। पांडा उन्हें मुख्यतः मौखिक गणित, सरल गणित तथा नागरी लिपि का संक्षिप्त रूप लान्द (‘पूँछ-हीन’, Lunde, या Lande) सिखाते थे, जो वाणिज्यिक लिखाई कहलाती थी। लीटनर के अनुसार, हर तरह की वाणिज्यिक लिखाई, चाहे वह ‘लान्द’, ‘लुन्द’, ‘सराफी’ या ‘महाजनी’ आदि जो भी कहलाती हो, मुख्यतः एक ही है और नागरी लिपि से ही बनी है। जिसे उन लोगों ने व्यावहारिक रूप से अधिक तेजी से लिखने लायक (Tachygraphic) बनाया, ताकि फारसी की तरह जल्द लिखने का उपाय हो जाए।

लीटनर के अनुसार, “दबे हुए और नापसन्द किए जानेवाले व्यापारी वर्ग के बीच हमें कुछ लोकप्रियता मिली।” इन्हीं लोगों ने सरकारी स्कूलों का लाभ उठाया। जबकि जिसके टैक्स से वे स्कूल बने थे, उस कृषक समाज को शिक्षा में ‘रोटी माँगने पर पत्थर दिए गए।’ अंततः यह स्थिति आ गई कि मध्य और उच्च-शिक्षा प्राप्त करने वालों में 90 प्रतिशत लोग उस नए वैकल्पिक समाज (*Nouvelles souches sociales*) से ही थे, जो पारम्परिक सम्मानित भारतीयों के विपरीत अंग्रेजों के साथ मिलकर अपनी ताकत और प्रतिष्ठा बढ़ाने का अवसर देख रहे थे। पारम्परिक कूलीनों का प्रभाव लुप्त हो गया। इस बीच ग्रामीण धनियों, रईसों और अच्छे किसानों ने सम्पत्ति और अभिमान के चलते या तो शिक्षा को पूरी तरह नजरअन्दाज कर दिया, या निजी शिक्षक रखकर अपने बेटों की शिक्षा का प्रबन्ध किया। वे नए हालात से निराश थे।

हालाँकि उन्हें सरकार पर भरोसा था, और वे अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों में भेजने के लिए तैयार थे, बशर्ते उनके ऊँचे सामाजिक स्तर का ध्यान रखते हुए वहाँ व्यवस्था हो। उदाहरण के लिए, इसी दृष्टि से उन्होंने लॉर्ड कैनिंग से लाहौर में ऐसे कॉलेज की माँग की, जो केवल उनके बच्चों के लिए सुरक्षित हो। तदनुरूप लाहौर जिला स्कूल के सम्बन्ध में एक विशेष विभाग बनाया भी गया, इंग्लैंड के पुराने विश्वविद्यालयों की तर्ज पर जहाँ उच्चवर्गीय कुलीनों (Patricians) और दूसरे छात्रों के बीच अन्तर का ध्यान रखा जाता था। लेकिन जब 1864 में गवर्नरमेंट कॉलेज लाहौर की स्थापना हुई तो विद्यार्थियों में कुलीनों और सामान्य लोगों का भेद समाप्त कर दिया गया। इसीं ने इस आधिकारिक सत्य को स्वीकार कर लिया कि शिक्षा में कोई जन्मगत भेद न हो, मगर नीची जातियों के साथ संसर्ग न रखने की इच्छा से उनमें से अधिकांश ने अपने बच्चों को कॉलेज से हटा लिया।

कुल मिलाकर, जब नवम्बर 1864 में डॉ. लीटनर लाहौर पहुँचे, तब उन्होंने यह स्थिति पाई थी। लीटनर उस नव-स्थापित गवर्नरमेंट कॉलेज के प्रिंसिपल बनकर आए थे। उन्होंने महसूस किया कि शासन से उच्च-वर्गीय भारतीय अलग-थलग थे, चाहे उनमें कोई विद्रोह की भावना नहीं दिखाई देती थी। इस बीच सरकार के शिक्षा विभाव ने कुछ तो नासमझी में, कुछ अपने संकीर्ण हित, में लोगों की शिक्षा सम्बन्धी आकांक्षाओं को उपेक्षित किया। इसीलिए सरकार द्वारा उन्हें देशी शिक्षा की स्थिति का पूरा आकलन करने का जो निर्देश 1854 में ही मिला था, उस पर प्रायः कुछ नहीं हुआ। वैसे भी शिक्षा विभाग सरकार के दूसरे विभागों जैसे चुस्त, प्रशासनिक अंग के रूप में कार्य नहीं करता था। लीटनर के आकलन में यह कुल मिलाकर सरकार के हित में नहीं था, क्योंकि इससे लोगों में सरकार के प्रति उदासीनता ही पैदा हो रही थी। लीटनर यह भी कहते हैं कि शिक्षा विभाग की इस प्रवृत्ति ने प्राचीन सभ्यतावाले इस देश का सहज, आन्तरिक विकास बाधित किया; क्योंकि उसकी अपनी शिक्षा व्यवस्था ध्वस्त होने के कागार पर थी, जबकि नई सरकारी व्यवस्था न तो पर्याप्त थी, न उसमें गुणवत्ता थी।

जो नई अंग्रेजी शिक्षा दी जा रही थी, उसमें मुख्यतः गणित तथा मामूली अंग्रेज लेखकों की कुछ साहित्यिक या ललित रचनाएँ थीं। जैसे, डॉ. डिक्शन का 'लाइफ ऑफ वेकन', प्रेसकॉट की 'एसे ऑन शेतोंड्रियाँ एसे ऑन मिल्टन', कैम्पबेल का 'रेटररिक', रोजर का 'इटली'—यह सब उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए अंग्रेजी साहित्य का पाठ्यक्रम था। दर्शन में अबेरक्रॉम्बी, तथा इतिहास में यहौदियों, रोम और ग्रीस के इतिहास की कुछ बातें—बस इतना पर्याप्त समझा गया। प्राथमिक शिक्षा की सामग्री का हाल यह था कि एक नक्शे में सहारा को स्पेन के बीच गुजरते दिखाया गया था। जो दिखाता था कि पाठ्य-सामग्री योग्य लोगों ने नहीं बनाई है। 1874 की

पार्लियामेंटरी रिपोर्ट के अनुसार, भारत में नई अंग्रेजी शिक्षा ने विद्यार्थियों को सुसंस्कृत नहीं बनाया है, जो शिक्षा की एक सर्वोच्च पहचान है। (वही, पृ. VII) रिपोर्ट ने यह तत्व उन लोगों में पाया, जिन्होंने फारसी और संस्कृत की शिक्षा पाई है। उनमें सुरुचिपूर्ण संस्कार के साथ बौद्धिक क्षमता से जुड़ी आदतें देखी जाती हैं, जबकि अंग्रेजी शिक्षा पाए लोग जैसे-तैसे कुछ रटी हुई जानकारियाँ ही दुहरा सकते हैं।

यही बात पंजाब के लेफिटनेंट गवर्नर की रिपोर्ट (Proceedings No.606, 18 February, 1873) में भी मिलती है, कि पंजाब में अंग्रेजी भाषा और साहित्य अच्छी तरह नहीं पढ़ाया जाता। उससे न विद्वान बन रहे हैं, न भद्र-सुसंस्कृत लोग। शिष्टाचार शिक्षा भी उपेक्षित रही है। "यदि शिक्षा का नतीजा यह हो कि वहाँ से आकर युवक अहंकारी, उद्धृत और अशिष्ट वाचाल दिखें तो आश्चर्य क्या कि माता-पिता घर में ही बच्चों को पढ़ाना चाहते हैं। अंग्रेजी शिक्षा पाए हुए युवक बस जैसे-तैसे अंग्रेजी लिख, बोल लेते हैं। अंग्रेजी साहित्य से उनकी पहचान बड़ी छिलती तथा इतिहास का ज्ञान अहंकारपूर्ण है।" (वही, पृ. VIII) रोचक बात यह है कि यह सब लिखकर आगे इस रिपोर्ट ने यहाँ अंग्रेजी शिक्षा से जिन गुणों को उभरने, विकसित होने अपेक्षा की थी—उदात्तता, भद्रता, विनप्रता और विवेक—वह आज तक अंग्रेजी शिक्षित भारतीयों में यथावत् अपेक्षित ही रह गई है। रिपोर्ट ने पाया था कि सच्ची ज्ञान-भावना और रुचि यहाँ की पारम्परिक शिक्षा के पास ही है। लकड़ी, कागज, चमड़े, भोज-पत्र, ताङ-पत्र, पेड़ की छाल, आदि पर लिखी हुई पांडुलिपियों में ज्ञान का सौन्दर्य और तफसीलों का विशेष ध्यान रखा गया है। उसकी जितनी भी प्रशंसा की जाए, कम है। "एक हजार वर्ष पहले लिखे गए उनके पन्ने आज भी बिलकुल चमकते ताजे लगते हैं। जो आज के रंगीन अंग्रेजी प्रकाशनों से अधिक सुन्दर है। उनके बनाए चित्रों में व्यक्तियों, घटनाओं दृश्य में वह सूक्ष्म प्रभावशीलता है, जो हमारे आज के फोटोग्राफ या ड्राइंग-रस्म पेंटिंगों में नहीं मिलती।" (वही पृ. VIII) इसीलिए रिपोर्ट पश्चिमी और पूर्वी शिक्षा का सन्तुलित योग बनाने की सिफारिश करती है, क्योंकि दोनों को एक-दूसरे से सीखना है। इसने पारम्परिक शिक्षा को सरसरी तौर पर खारिज करने तथा नष्ट होने देने की प्रवृत्ति को अविवेकपूर्ण बताया। ले. गवर्नर की यह रिपोर्ट पारम्परिक भारतीय शिक्षा की उदात्तता, ज्ञान का आदर करने, उसके प्रति विनप्र श्रद्धा रखने तथा किसी भी बात को गहराई से जानने, हर तफसील का ध्यान रखने की प्रवृत्ति को बहुत मूल्यवान मानते हुए इससे अंग्रेजी शिक्षा को जोड़ने की ताकीद करती है।

इस बीच पारम्परिक पंडितों-ज्ञानियों के बीच से कुछ हलचल भी हुई, जो अपने ज्ञान को बचाने तथा विकसित करने का लक्ष्य रखती थी। डॉ. लीटनर ने भी इसमें प्रेरक भूमिका निभाई थी। उन्होंने 'अंजुमने पंजाब' नामक संस्था बनाई। इसका उद्देश्य था उपयोगी ज्ञान का प्रसार, साहित्यिक वैज्ञानिक विषयों पर विचार-विमर्श

सामाजिक-राजनीति सुधारों पर खुली चर्चा, आदि इसने सार्वजनिक पुस्तकालय और वाचनालय भी खोले। इसी संस्था के संस्कृत विभाग के प्रमुख तथा प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् पंडित राधा कृष्ण ने ब्रिटिश सरकार को एक पत्र लिखा। प्रिन्स ऑफ वेल्स ने उसका नोटिस लिया। उससे ‘प्राच्य-विद्या आन्दोलन’ (ओरिएंटल मूवमेंट) को बल मिला। इसके प्रमुख लक्ष्य थे : (1) पंजाब में एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना, जिसे भारतीय लोग स्वयं अपनी जरूरत के अनुसार चलाएँ। (2) क्लासिकल भारतीय भाषाओं, मुसलमानों के लिए अरबी तथा हिन्दुओं के लिए संस्कृत का अध्ययन पुनर्जीवित किया जाए। (3) जनता के लिए यूरोपीय ज्ञान को सुलभ कराया जाए। (4) अंग्रेजी शिक्षा का स्तर उन्नत किया जाए। इस आन्दोलन को समर्थन भी मिला, भारतीय तथा कई उच्च अंग्रेज अधिकारियों द्वारा भी।

इस बीच 1864 में 4 विद्यार्थियों से शुरू हुए लाहौर गवर्नरमेंट कॉलेज में 1872 में 60 विद्यार्थी हो गए। यह अंग्रेजी शिक्षा की बढ़ती माँग का संकेत था। वहाँ से निकले ग्रेजुएट सफल अधिकारी, कर्मचारी या प्रोफेशनल बन रहे थे। जैसा बाद के इतिहास से लगता है कि पूरे भारत में अंग्रेजी स्कूल-कॉलेजों का प्रभाव उसी गति से बढ़ता गया जैसे पंजाब के विशाल क्षेत्र में लीटनर रिपोर्ट ने नोट किया। लगभग वही तथ्य कलकत्ता प्रेसिडेन्सी में सन् 1835 और 1838 में आई.डब्ल्यू.एडम की रिपोर्टों में भी मिलता है। एडम ने तब के बंगाल-बिहार-ओडिशा के विशाल क्षेत्र में यही अध्ययन किया था। उसी दौर में बम्बई प्रेसिडेन्सी में भी यही तथ्य पाए गए थे। सभी रिपोर्टों में यह समान तथ्य उभरकर आता है कि सम्पूर्ण भारत की शिक्षा व्यवस्था गम्भीर, ज्ञान-पूर्ण, आत्म-निर्भर, राजसत्ता के हस्तक्षेप से पूर्णतः स्वतन्त्र, गाँव-गाँव तक उपलब्ध तथा गुणवत्ता एवं गहराई में भी यूरोपियनों से कई मामलों में उन्नत थी। यह डेढ़ सौ साल पहले तक की स्थिति थी! किन्तु, अंग्रेजों की सत्ता के प्रभाव, यहाँ के नवोदित उच्च-वर्ग के लोभ, भारतीयों की सामाजिक एकता में कमी तथा पारम्परिक ज्ञानियों की प्रतिष्ठा एवं हैसियत में तेजी से गिरावट आदि कई कारणों से पारम्परिक शिक्षा लगभग लुप्तप्राय हो गई।

इस प्रकार, लीटनर ने रोचक और भावपूर्ण भाषा में डेढ़ सौ वर्ष पहले की एक सत्य-कथा ही लिखी है। उनके ही शब्दों में यह ‘एक यूरोपीय सभ्यता के एक एशियाई सभ्यता से संपर्क का इतिहास है’, जिसमें पंजाब की शिक्षा लगभग नष्ट हो गई, कैसे उसके पुनर्जीवन के अवसर गँवा दिए गए और कैसे उस शिक्षा के विकास या तो उपेक्षित किया गया या उसे विकृत किया गया। लीटनर ने इसके लिए किन्हीं व्यक्तियों के बदले अपनी व्यवस्था को दोषी बताया है, जो नए अंग्रेज शासन ने बनाई थी। जो लोग दो सौ वर्ष पहले के भारत को यूरोपियनों से पिछ़ा मानते हैं, तथा भारत में अंग्रेजी राज को आधुनिक विकास और उन्नति का कारण मानते हैं, उनके लिए यह रिपोर्ट आँख खोलनेवाली है।

सन्दर्भ—टिप्पणियाँ

¹ लेखक को यह रिपोर्ट चंडीगढ़ के श्री सुरेन्द्र बन्सल जी के सौजन्य से प्राप्त हुई। वे एक अच्छे लेखक, परिश्रमी सम्पादक, पर्यावरण-रक्षक तथा शिक्षा-सेवी हैं।

² यह डिवीजन थे : दिल्ली (इसमें जिले थे—दिल्ली, गुडगाँव, करनाल); हिसार, रोहतक, सिरसा), अम्बाला (अम्बाला, लुधियाना, शिमला); जालन्धर (जालन्धर, होशियारपुर, काँगड़ा); मुलतान (मुलतान, झाँग, मुजफ्फरगढ़, मोंटगोमरी); अमृतसर (अमृतसर, गुरदासपुर, सियालकोट); लाहौर (लाहौर, गुजराँवाला, फिरोजपुर); रावलपिंडी (रावलपिंडी, झेलम, गुजरात, शाहपुर); डेराजात (डेरा गाजी खान, बन्धु, डेरा इस्माइल खान) तथा पेशावर (हजारा कोहाट)।

³ विस्तार से तत्कालीन भारत की शिक्षा व्यवस्था के बारे में जानने के लिए देखें, धर्मपाल, समीय वृक्ष, ‘धर्मपाल : समग्र लेखन’ खंड — 4 तथा 18वीं शताब्दी में भारत में विज्ञान एवं तन्त्रज्ञान, ‘धर्मपाल : समग्र लेखन’ खंड — 2 (अहमदाबाद : पुनरुत्थान ट्रस्ट, 2007).

⁴ जी. डब्ल्यू. लीटनर, हिस्टरी ऑफ इंडीजीनस एजुकेशन इन पंजाब सिन्स एनेक्सेशन एंड इन 1882, पहली बार 1883 में प्रकाशित। पटियाला स्थित लैंगवेज डिपार्टमेंट, पंजाब द्वारा 1971 में पुनः प्रकाशित। पुस्तक ‘इंड्रोडक्शन’ तथा ‘हिस्टरी ऑफ इंडीजीनस एजुकेशन इन द पंजाब’ के अलावा पाँच भागों में विभक्त है। इसके बाद अंत में सात परिशिष्ट भी हैं। हालाँकि वास्तव में इस 1971 वाले पुनः प्रकाशन में चार परिशिष्ट (II से V) छूट गए हैं। इन सभी हिस्सों में अलग-अलग, पृ. 1 से पृष्ठ संख्या दी गई है। इसीलिए सम्बन्धित खंड के शीर्षक के साथ उसकी अपनी पृष्ठ संख्या दी जा रही है। ‘इंड्रोडक्शन’ तथा ‘हिस्टरी ऑफ इंडीजीनस एजुकेशन इन द पंजाब’ वाले आरम्भिक दो अध्याय में पृष्ठ संख्या छोटे रोमन अंकों में दी गई है। इसीलिए, यहाँ सन्दर्भ है : ‘इंड्रोडक्शन’, पृ. II

ऋग्वैदिक सरमा एवं पणि आख्यान का प्राचीन ग्रीक पुराकथाओं में रूपान्तरण

डॉ. राजीव रंजन उपाध्याय*

वर्णित है कि सर्वतोमुखी प्रजापति ब्रह्मा आदि वेदाचार्य थे। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय तथा संस्कृत साहित्य में समस्त विद्याओं के आगम भूत पद-प्रवक्ता ब्रह्मा ही थे। ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, आदि आद्य ऋषियों को वेदों का ज्ञान उपलब्ध कराया। उसी के आधार पर लोकोपकारक समस्त विद्याओं का प्रवचन किया। वही भारतीय वाङ्मय में आदि वेदाचार्य कहलाये।¹

महाभारत में अपान्तरतमा, जो प्राचीन गर्भ के नाम से सम्बोधित है, ने कपिल और हिरण्यगर्भ आदि ऋषियों के साथ ऋग्वेदादि का सर्वप्रथम विभाग किया था।

अपान्तरतमा नामो सूतो वाक्सम्भवों विभो ।
भूत भव्य भविष्यज्ञः सत्यवादी दृढ्रवत ॥

* * *
अपान्तरतमाश्चैव वेदाचार्य स उच्यते ।
प्राचीनगर्भं तमुषि प्रवन्नीह केचन ॥¹

परन्तु ऋग्वेद कितना प्राचीन है, इस प्रश्न पर आधुनिक विद्वानों के मत मिन्न-मिन्न हैं। डेविड फ्राउले के अनुसार यह समय आज से 6000 वर्ष पूर्व का हो सकता है। उन्होंने यह परिणाम वैदिक ग्रन्थों से वर्णित नक्षत्रों की स्थिति तथा अन्य साक्षों के आधार पर निकाला है।² तिलक की भाँति³ वे भी इस पक्ष में हैं कि ऋग्वेद और अन्य वेदों की रचना की समाप्ति आज से 4000 से लेकर 2000 वर्षों के अन्तराल में हुई होगी।⁴ राजाराम का मत है कि वैदिक सूत्र-युग, सुमेरियन-अक्काडियन,

* पूर्व प्रोफेसर कैंसर शोध, तबरीज विश्वविद्यालय, तबरीज ईरान, सम्पादक : विज्ञान कथा, आवास : 'विज्ञान' परिसर कोठी काके बाबू देवकाली मार्ग, फैजाबाद-224001; (उ.प्र.), दूरभाष : 05278-240176, सचलभाष : 09838382420, ई-मेल: rajeevranjan.fzd@gmail.com

मिस्र की सभ्यता तथा सिन्धु घाटी की सभ्यता का समकालीन है। इस कारण ऋग्वेद में विद्यमान आन्तरिक साक्षों के आधार पर यह माना जा सकता है कि ऋग्वेद के कुछ मन्त्र अति प्राचीन हैं।⁵ सम्भव है प्राचीन मन्त्र, मंडल में उस अन्तिम दिन युग की समाप्ति के उपरान्त प्रकट हुए होंगे, जब उत्तर भारतवर्ष की नदियाँ हिमयुग से मुक्त होने का प्रयास कर रही थीं।⁶ जो अनुमानतः बीस हजार से सोलह हजार ई. पू., 4000 वर्ष के लघु हिमयुग की समाप्ति के उपरान्त प्रारम्भ हुआ होगा।

परन्तु इतना ही नहीं ऋग्वेद के दशम् मंडल के 85वें सूक्त का 13वां मन्त्र कहता है—

सूर्याय वहतुः प्रागात सविता यमवासृजत् ।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्या पर्युद्धते ॥

सूर्य ने अपनी पुत्री सूर्या को जो सामग्री विवाह में दी वह आगे चली। अघा (मघा) नक्षत्र में तो उसको ले चलने वाले बैलों को पीटना पड़ता है, अर्जुनी (फाल्तुनी) नक्षत्र में गाड़ी वेग से चलती है।

आजकल 23 दिसम्बर को सबसे छोटा दिन होता है। उस दिन सूर्य मूल नक्षत्र में होता है। उसके बाद उसकी उत्तरायण गति प्रारम्भ हो जाती है। किसी समय अयन-परिवर्तन उस समय होता था जब सूर्य मघा में होता था। पूर्वी उत्तरा-फाल्तुनी में गति बदल जाती थी। मघा में सूर्य अगस्त में होता है मघा के बाद उत्तरायण का होना, यह आज से 17000 वर्ष पहले होता था। वह पुरानी स्मृति इस मन्त्र में विद्यमान है।⁶

यह सर्वविदित तथ्य है कि पुराकाल में उत्तरी भारतीय क्षेत्र में भूगर्भिक परिवर्तन हुए थे। हिमालय समुद्र में जलमान था, विन्ध्य गिरि बहुत ऊँचा था। हिमालय क्रमशः समुद्र से बाहर निकला समुद्र हटा-भूमि ऊपर आई—भूकम्प आये—शैनः-शैनैः पृथ्वी स्थिर हुई, पर्वत स्थिर हुए यह संकेत ऋग्वेद के दूसरे मंडल के 12वें सूक्त के दूसरे मन्त्र में निहित है—

यः पृथिवीं व्यथमानाभृदं द्रयः पर्वतन प्रकुपितां अरम्णात ।
यो अन्तरिक्ष विममें वरीयो धामस्तम्नात्स जनास इन्द्रः ॥

वैदिक जनों के निवास स्थान के समीप समुद्र था। इसी का उल्लेख करते हुए करिक्रितु नामक ऋषि के सन्दर्भ में कहा गया है—उभौसमुद्रावाक्षेति यश्च पूर्वउतापरः। ऋ 1.3-6,5

वे (ऋषि) पूर्व और पश्चिम दोनों समुद्रों तक जाते हैं। स्वाभाविक है कि यह मन्त्र उत्तर स्थित थार-सागर की ओर संकेत करता है जो अति प्राचीन काल में उत्तर भारत में विद्यमान था⁷ जहाँ आज थार की मरुभूमि है।⁸

विन्तन-सृजन, वर्ष-12, अंक-4

महाभारत में वर्णित है कि गंगा वेसिन पूर्व में समुद्र था तथा यह ‘नदी सूक्त’ के काल तक विद्यमान था इसी कारण भारत के इस उत्तरी क्षेत्र का वर्णन ऋग्वेद में नहीं है।⁸

इसी प्रकार ऋग्वेद (3.33.2) में उल्लेख है कि पुराकाल में शुतुद्री और विपाशा नदियाँ समुद्र में मिलती थीं, तथा सरिता सरस्वती पर्वत से निकलकर सागर में मिलती थीं, (ऋ. 7.95.2) जो अब एक सत्यापित भूगर्भीय तथ्य है।⁹ संक्षेप में, इन कुछ उपर्युक्त साक्षों को ध्यान में रखते हुए ऋग्वेद के मन्त्रों का सृजन-फलक मात्र दस-बीस हजार वर्षों में समेटने का प्रयास मात्र दुःसाहस है—जो न्यायोचित नहीं है।

ऋग्वेद के अन्य मंडलों की भाँति इसका दशम मंडल अपेक्षाकृत नवीन प्रतीत होता है।¹⁰ पुरुष सूक्त (मंडल 10, 90) नारायण के समर्पित है, जो स्वतः श्रीकृष्ण हैं और शान्तनु देवापि के कनिष्ठ भ्राता तथा महाभारत में कुरुवंश से सम्बन्धित हैं।

ऋग्वेद के सूक्त 10, 98 के मन्त्र द्रष्टा देवापि ऋषिषेण हैं। इनके पिता का नाम ऋषिषेण था। निरुक्त 2, 10 के अनुसार देवापि और शान्तनु कौरववंश के दो राजा थे। देवापि बड़े थे, परन्तु अभिषेक शान्तनु का हुआ था, फलस्वरूप उनके राज्य में 12 वर्ष तक वर्षा नहीं हुई थी। फिर उन्होंने देवापि को राज्य देना चाहा पर उन्होंने अस्वीकार कर दिया। देवापि ने स्वयम् पौरोहित्य कर यज्ञ कराया, जिससे वर्षा हुई।

यदेवापि: शान्तन्वे पुरोहितो होत्राय वृत कृपयन्नदीधेत।

देवशुतं वृष्टिवनि रराणो वृहस्पतिवर्चमस्मा अयच्छेत ॥

ऋ. 10-89-7

महाभारत के अनुसार राजा प्रतीक के तीन पुत्र थे—देवापि, शान्तनु एवं वाहलीक। देवापि ने तपोबल से ब्राह्मणत्व प्राप्त किया। आचार्य सायण ने इन्हें “ऋषिषेण पुत्रो देवापि नमिष्य” ऋषिषेण का पुत्र कहकर निरूपित किया है। सम्भव है प्रतीक का दूसरा नाम ऋषिषेण रहा हो। देवापि ने बृहस्पति की प्रेरणा से नये स्तोत्रों को उदित किया।

इनके विषय में आचार्य शौनक ने अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ वृहद्देवता ने लिखा है कि ऋग्वेद के देवापि, महाभारत के देवापि हैं।¹¹

यह तथ्य स्पष्ट रूप से इँगित करता है कि महर्षि व्यास के महाभारत युद्ध की समाप्ति के उपरान्त, इस ग्रन्थ के तीन वर्षीय प्रणयन काल में, पुरुष-सूक्त के उक्त प्रगट हुए मन्त्र ऋग्वेद के दशम मंडल का अंश बन गये। इस प्रकार ऋग्वेद के प्रणयन की अन्तिम सीमा महाभारत के प्रणयन की अन्तिम सीमा, 3700 BCE वर्ष के पूर्व की प्रतीत होती है।¹²

सम्भवतः इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते ऋग्वेद का कोई ऋषि यह नहीं कहता कि मन्त्र-पूर्व में विद्यमान नहीं थे—वह उद्घोष करता है—“पूर्वविभिः ऋषिभिः:.....नूतनाहि”। यह पुराकालीन वैदिक सम्भवता आध्यात्म से ओत-प्रोत थी।¹³

ऋग्वेद के दशम मंडल-सूक्त 108 में सरमा और पणियों का संवाद वर्णित है।¹⁴

ग्रीफिथ¹⁵ के अनुसार यह वार्तालाप देव-दूती सरमा, इन्द्र की सन्देश वाहिका और असुर-सम पणियों के मध्य देव-गो अथवा सूर्य रश्मियाँ जिनका हरण पणियों ने कर लिया था, उन्हें वापस देने के सन्दर्भ में वर्णित है। परन्तु मैकडोनल¹⁶ इससे भिन्न अर्थ करते हैं। पणियों और सरमा के संवाद को विद्वानों ने अपनी दृष्टि से देखा है, उसी भाँति यह आख्यान बहुआयामी भी है।

सूर्य के उदय और अस्त् होने के शाश्वत चक्र ने, प्रारम्भ में वैदिक जनों को सोचने पर बाध्य किया होगा कि निश्चय ही कोई शक्ति सूर्य-रश्मियों का हरण कर रात्रि और उससे प्रबल शक्ति इन रश्मियों का उद्धारकर, उस शक्ति को पराजित करती है।

प्रारम्भ में इन शक्तियों का कोई नाम नहीं रहा होगा। परन्तु वैदिक सम्भवता के क्रमिक विकास के परिणामस्वरूप ऋषियों को यह दृग्विषय व्यापार लगे होंगे, जो कालान्तर में कृपण पणियों से, कृपण वणिकों से तथा सूर्य रश्मियों-गो से सम्बद्ध होकर, देवदूती सरमा के स्वरूप में आख्यान बनकर मन्त्रों के रूप में प्रगट हुए।

सरमा, इस प्रकार देवदूती बनकर अपहृत सूर्य रश्मियों को उषा के रूप में धरा पर ले आती है। वैदिक वाङ्मय में सरमा देवशुनी कही गई है जिसके दो पुत्र श्याम और शायाल (चितकवरो) वर्ण के हैं, यह यम के श्वान हैं, जो देवयान और पितृयान मार्गों के रक्षक हैं।¹⁷

तथ्यतः देवयान एवं पितृयान की अवधारणा का विकास मृगशिरा नक्षत्र में बसन्त निपात के उपरान्त प्रारम्भ हुआ होगा, क्योंकि पुराकालीन आर्यजनों का जीवन यज्ञादि के चतुर्दिक, शुभकर्मों के चारों ओर चक्रित रहता था। देवयान और पितृयान के द्वारों को सदा खुला रखने की प्रार्थना ऋग्वेद में की गई है। प्राचीन यूनानी-ग्रीक परम्परा में भी प्रचलित था कि सदकर्मा व्यक्ति कर्क राशि और वृश्चिक राशि के मार्ग से चलकर स्वर्ग-द्वार तक पहुँचते हैं।^{18, 19}

इसी सन्दर्भ में यह चर्चा करना समीचीन होगा कि प्राचीन ईरानी आर्यों, जो कि वैदिक अनु एवं द्वयु जनों के वंशज थे,²⁰ की अवधारणा थी कि अन्तरिक्ष स्थित ऋतु परिवर्तन बिन्दु एक सेतु है, जो स्वर्ग और नर्क के मार्ग को जोड़ता है। इस चिन्वास सेतु के रक्षक दो श्वान हैं, जो इसके दोनों सिरों पर रहते हैं तथा मृत-आत्मा को उस लोक में प्रवेश करने में सहायता करते हैं। यह चार आँखों वाले श्वान यमलोक के रक्षक हैं।²¹

देवयान और पितृयान के इन रक्षक श्वानों को ऋग्वेद “चतुःअक्षम्” और आवेस्ता चहार-चश्मन्—चार आँखों वाला कहता है।²²

सरमा इन्द्र दूती के रूप में वर्णित हैं—

विन्तन-सृजन, वर्ष-12, अंक-4

इदंस्य दूतीरिषता चरामि मह इच्छन्ति पणयो निधीन्वः ।
अतिष्कदो भियासा तन्न आवत्रथा रसया अन्तरपयासि ॥

ऋ. 10, 108.2

इसी भाँति पणि व्यापारी अथवा वणिक के रूप में वर्णित हैं—

अथ बृुः पणीनां वर्षिष्ठे मूर्धन्नस्थात् ।

उहः कक्षो न गाङ्गयः ॥ —ऋ. 2,45, 31

वे प्रतिस्पर्धी असुर हैं जो अपने धन की रक्षा करते हैं—

दासपत्नीहिंगोपा अतिष्ठन्निरुद्धा आपः पणिसवे गावः ।

आपां बिलमपिहितं यदासीद वृत्रं जधन्वाँ आपनद्वबार ॥

ऋ. 1.32.11

वे गायों का हरण कर उन्हें गुफा में बन्द कर देते हैं—

(ऋ. 1.32.11)

गायें प्रमुखतः प्रकाश की किरणें हैं जो अन्धकार रूपी असुरों द्वारा—पणियों द्वारा—अपहृत कर ली जाती हैं।

(ऋ. 11, 111, 2) ।

वे जलद के समान हैं जो पणियों द्वारा छिपा दी जाती हैं। पणिजन गोधन, अश्वों को धन के रूप में एकत्र करते हैं। (ऋ. 1,83, 4) ।

इन उपरिवर्तित तथ्यों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि असुरसम पणि रात्रि में सूर्य रश्मियों का हरण कर लेते हैं जिन्हें सरमा रूपी उषा प्रतिदिन छीन लाती है। यही सरमा और पणियों की कथा का प्रस्थान बिन्दु है—उद्भव बिन्दु है। यही कथ्य तथ्य का रूप धारण कर मानव चेतना में सुदीर्घ काल तक वास करता रहा है।

सरमा आख्यान का परिवर्तित रूप ग्रीक एवं ट्यूटोनिक (Teutonic) मिथ्यकों में विद्यमान है। परन्तु ग्रीक मिथ्यकों में यह वैदिक देव पूषन से संयुक्त होकर सर्वथा एक नवीन चरित्र में परिवर्तित हो जाता है। इस कारण देव पूषन के वैदिक पक्ष पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

ऋग्वेद में पूषा देवता को प्रमुख देव के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। पूषन शब्द पुष् धातु से बना है, जिसका अर्थ है पोषक, पुष्ट करने वाला। ऋग्वेद में पूषा देवता सूर्य की कल्याणकारी एवं मानवों को पुष्टि प्रदान करने वाली शक्ति के रूप में वर्णित है। सूर्य देवता की भाँति ही वे सभी को स्पष्ट रूप से देखते हैं तथा विश्व का अवलोकन करते हैं।¹⁴ वे सविता देवता की प्रेरणा से विचरण करते हैं।¹⁵ उनसे दीघार्यु एवं वर्चस की अभिवृद्धि हेतु प्रार्थना की गई है।¹⁶ पूषा देव मार्ग के विघ्नों, वृक्षों, दस्युओं से रक्षा करते हैं।¹⁷ उनकी स्तुति ऋग्वेद के चतुर्थ मंडल के 16-19 सूक्तों में विद्यमान है। उनसे एक सूक्त में ‘काकम्बीर’ वनस्पति को नष्ट न होने देने की प्रार्थना की गई है।¹⁸

मूलभूत रूप से पूषन आदित्य हैं वे उदित होते हुए सूर्य का स्वरूप हैं। सायाणाचार्य के अनुसार पूषन की भगिनी उषा है। ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र में अश्वन को पूषन कहा गया है, परन्तु पूषन मुख्य रूप से मार्ग-दर्शक तथा मार्ग सुरक्षा प्रदाता हैं जिसकी चर्चा ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में की गई है।¹⁹ पूषन भटके हुए पशुओं को खोजने में भी सहायक है। इस कारण वे ‘पशुपा’ हैं।²⁰

पूषन के रथ को अज-छाग-बकरे खींचते हैं,²¹ वे अज के संरक्षक हैं तथा उनके कर्ण अजाश्व की भाँति हैं। यह तथ्य ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में प्रतिध्यनित होता है।²²

पूषन मृतकों को उनके पूर्वजों द्वारा गये मार्ग पर ले जाने में सहायक हैं।²³

वैदिक काल की समाप्ति के उपरान्त पूषन की चर्चा-उपासना क्यों अवरुद्ध हो गई, स्पष्ट नहीं है, क्योंकि प्राचीन पुराणों में भी उनकी चर्चा नहीं है।

ठीक इसके विपरीत पणि और उसका किञ्चित परिवर्तित रूप वणि जिससे वाणिज्य, पण्य, आपण्य, आपणियका पण, आदि शब्द उद्भुत हुए हैं, आज भी प्रचलित हैं।²⁴

प्राचीन ग्रीक आख्यानों में सरमा और पणि

सरमा और पणि प्राचीन आख्यानों में हरमेस (Hermes) और उसके पुत्र पान में परिवर्तित हो जाते हैं। उनमें वैदिक देव पूषन के चरित्र तथा छाग-बकरी के गुणों का मिश्रण भी विद्यमान है। दूसरे शब्दों में हरमेस (Hermes) वैदिक सरमा, सरमेय, पणियों और पूषन के गुणों का मिश्रित प्रारूप है। तथ्यतः हरमेस स्वतः सारमेय का परिवर्तित उच्चारण है। हरमेस के पुत्र पान का उद्भव कारक शब्द पणि है। सरमा देव दूती है—विशेषकर इन्द्र की, उसी भाँति हरमेस ग्रीक देव जीयस (Zeus) का दूत है।²⁵

वैदिक धौः शब्द से जीयस-ग्रीक देव उद्भूत है। यह ग्रीकजनों का देवराज है। यही धौःपृथिव्यः (ऋग्वेद : 6, 51, 5) धौः पितर रोमन जनों का जूपिटर हो गया है।⁶

सारमेय मृत आत्माओं के मार्ग दर्शक हैं, वे उन्हें यम तक ले जाते हैं।¹² यही कार्य पूषन भी सम्पादित करते हैं, वे मृतक आत्माओं को उनके पूर्वजों के मार्ग पर ले जाते हैं।¹¹

हरमेस ‘अंडरवर्ल्ड’ से सम्बन्धित है, वह मृत आत्माओं को वहाँ ले जाता है। यहाँ पर यह उल्लेख करना रोचक होगा कि यम-हर्म्य, जो अथर्ववेद में वर्णित है, तथ्यतः शवाधान का ध्योतक है। यही वैदिक कल्प सूत्र युग (2700 BCE) की शमशान चिति है, जिसके प्रतिपादक महान भारतीय गणितज्ञ महर्षि बोधायन हैं (3000 BCE) और इसी का परिवर्तित स्वरूप प्राचीन मिस्र की तृतीय सत्ता-डायनेस्टी द्वारा निर्मित मस्तावा है।² (चित्र 1) यही अंडर वर्ल्ड है।

पणि-वणिक हैं, व्यापारी हैं तथा पान शब्द का अर्थ है दाँव लगाना, गिरवी रखना—जो व्यापार में सामान्यतः प्रचलित था और आज भी है।²⁶

इसी भाँति हरमेस-व्यापार का देवता है, लाभ प्रदाता है जो क्रीड़ा और दाँव लगाने से भी जुड़ा है।²⁵ कालान्तर में ग्रीक देव परिवार एवं ग्रीक पुराआख्यानों का रोमनों द्वारा स्वीकृत किये जाने के उपरान्त हरमेस का स्वरूप परिवर्तन मरकरी में (Mercury) हो गया, जो उनके पूर्ववर्ती इत्युक्तन जनों का व्यापार का देवता था।²⁷

ग्रीक पुराआख्यानों को रोमनों द्वारा स्वीकारना उनके मूलभूत रूप से वैदिक द्रुद्यु शाखा के होने के कारण हो सकती है। क्योंकि वे J2B हेल्पो ग्रुप क्रोमोसोम धारी भारतीय उद्भव के जन थे²⁸ तथा इनके द्वारा भारतीय-वैदिक संस्कृति का विस्तार इटली एवं समीपवर्ती सभी क्षेत्रों में प्रारम्भ हो गया। इसके साक्ष्य उन सभ्यताओं से प्राप्त अवशेषों में निहित हैं।²⁷

मरकरी शब्द मेरेक्स धातु (Merx) से बना है—जिसका अर्थ मर्चेंडाइज, व्यापार की वस्तुएँ, होता है तथा मरकरी शब्द दाम और व्यापार के अर्थ में भी व्यवहृत होता है। इस प्रकार मरकरी पूर्ण रूपेण व्यापार का देवता है।²⁵

क्लासिकल-ग्रीक मूर्तिकला में हरमेस एक स्वरूपवान, पंख युक्त सैन्डिल, हेलमेट-शिरस्त्राण और दंड जिस पर दो सर्प लिपटे रहते हैं—युक्त दिखाया जाता है। (चित्र 2)

परन्तु हरमेस के कार्य और उसके गुण इस स्वरूपवान मूर्ति की अवधारणा के विकसित होने के पूर्व अवश्य ही श्वान के रहे होंगे।

क्योंकि पुराकालीन ग्रीस में हरमेस पशुपालकों-गड़ेरियों द्वारा पूजित था। यह उनके पशुधन और झोपड़ियों का रक्षक था। इसी हेतु ग्रीक जन अपने द्वार के सम्मुख हरमेस की एक अपरिष्कृत-अनगढ़ प्रतिमा रखते थे।²⁵

हरमेस का दूसरा दायित्व मृतक आत्माओं को अंडरवर्ल्ड तक ले जाना था। यह कार्य विश्व के विविध पुराआख्यानों में श्वान द्वारा सम्पादित किया जाता है। यह ऋग्वेद और आवेस्ता ही नहीं, वरन् इजिप्शियन-मिथ के मिथकों में—शृगाल सर युक्त अनुबिस (Anubis) देव के रूप में चित्रित है।²⁹ अनुबिस-रक्षक है और श्वानों का संरक्षक है।³⁰ यह उपअन्त के (Upuant) साथ मृतक स्थलों-शवाधानों का रक्षक है और उनको अन्तिम निर्णय कक्ष (judgement-chamber) जो प्रारम्भिक मस्तावा और कालान्तर का पिरामिड है, तक ले जाने वाला देव भी है।²⁹

पुराकालीन ग्रीक कथाओं में पान (Pan) की गुफाओं का वर्णन है। इसमें पशुपालक, प्रतिकूल परिस्थिति में अपने गोधन-पशुओं को रखते थे, ठीक पणियों की भाँति जो इन्द्र की गायों को गुफा में छिपा देते थे।

ग्रीक मिथकों में पान जंगल, पशुओं, शिकार और ग्रामीण संगीत का देवता माना जाता है। यह परियों का साथी है, मित्र है। यह अवधारणा है कि इसके पिछले पैर, पृष्ठभाग तथा सर अज-बकरी की भाँति हैं (चित्र-3) जो वैदिक देव पूषन के स्वरूप का प्रतिविम्ब है तथा यह प्रजनन से सम्बन्धित है।³¹

पुनः यहाँ पर वैदिक देव पूषन का रथ खींचने वाला छाग-बकरी वैदिक पणि-पान के स्वरूप में परिवर्तित हो जाता है; जो एक रोचक कथा-परिवर्तन है।

प्राचीन ग्रीक कथाओं में जीयस के श्वान को पानडेरेउस (Pan-dareus) नामक एक व्यक्ति चुरा लेता है। यही जीयस—वैदिक इन्द्र का समकक्ष है तथा इस मिथक में पणि-पानडेरेउस (Pan-dareus) गायों के स्थान पर श्वान को ही चुरा लेता है जिसको हरमेस और आइसिस छुड़ाते हैं। यहाँ पर ध्यान देने योग्य तथ्य है कि एक नवीन चरित्र आइसिस सरमा का स्थान ले लेती है।²⁵

एक अन्य ग्रीक पुराकथा में (Hermes), सरमा और पणि का एकीकृत स्वरूप बन जाता है। वह अपने जन्म के तत्काल बाद अपोलो की गायों (वैदिक-सूर्य रश्मियों) को चुरा लेता है। अन्धकार में वह 50 गायों को सरिता अलफेनस (Alphenus) के तट पर बन्द कर देता है। बाद में जीयस हरमेस को उन्हें लाने का निर्देश देता है।

इस रोचक आख्यान में वैदिक सरिता रसा (Rasa)¹¹ ग्रीक सरिता अलफेनस में परिवर्तित हो जाती है। इसी कारण लारूस विश्वकोष में वर्णित है कि यह ग्रीक आख्यान वैदिक सरमा के विम्बों से युक्त है।²⁵



चित्र-१ : श्वशान चिति और मस्तावा



चित्र-२ : हरमेस



चित्र-३ : पान

सन्दर्भ

1. पं. भागवद्दत्त : वैदिक वाङ्मय का इतिहास, द्वितीय भाग, विजय कुमार गोविन्द राम हासानन्द, 4408 नई सड़क, दिल्ली-110006, पृ. 9-10, 2008
2. नवरत्न राजाराम एवं डेविड फ्राउले : वैदिक आर्यन्स एंड द ओरिजिन आफ सिविलाइजेशन, चतुर्थ संस्करण, वायस आफ इंडिया, 2/18 अंसारी रोड, नई दिल्ली-110002, पृ. 220, 228, 226, 244, 184, 290, 2014
3. बालगंगाधर तिलक : ओरीयन (Orion)–ए सर्च इनटू एन्शियंटनेस ऑफ आर्यन वैदिक कल्वर, विजय गोयल, S-16, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032, 2010
4. भगवान सिंह : द वैदिक हड्डपस, आदित्य प्रकाशन, F-14e15, मॉडल टाउन-II, नई दिल्ली-110009
5. श्रीकान्त तलागिरी : द ऋग्वेद-ए हिस्टोरिकल एनालिसिस आदित्य प्रकाशन, F-14e15, मॉडल टाउन-II दिल्ली-110009, पृ. 93, 260, 482, 483, 2004
6. डॉ. सम्पूर्णानन्द : हिन्दू देव परिवार का विकास, मित्र प्रकाशन प्राइवेट लि., इलाहाबाद, पृ. 41-45, 19, 1964
7. ठाकुर प्रसाद वर्मा : सरस्वती : द सिविलाइजेशन एंड द रिवर, इतिहास दर्पण, 18 (2), 233-266, 2013
8. ठाकुर प्रसाद वर्मा : ऋग्वेद के सात सूक्तों का वैज्ञानिक विवेचन, वी.आर. पब्लिशिंग कॉरपोरेशन, दिल्ली-110052, पृ. 4, 2014
9. ऋग्वेद : प्रकाशक : युगनिर्मण योजना विस्तार ट्रस्ट, गायत्री तपोभूमि मथुरा-281003, पृ. 203, 10: 98.7,
10. ग्रीफिथ रेल्फ, टी.एच. : हाइम्स ऑफ ऋग्वेद, मुंशीराम मनोहर लाल, प्रा. लि. नई दिल्ली-110009
11. मैकडोनाल्ड, ए.ए. : द वैदिक माइथालॉजी, इंडोलोजिकल बुक हाउस, वाराणसी, अध्याय 3:56, 4: 14-19, 7:30, 8:49, 173-178, 1963
12. राजीव रंजन उपाध्याय : ऋग्वैदिक ग्रह-नक्षत्रों से सम्बन्धित कुछ तथ्य एवं मिथक : इतिहास दर्पण 17 (1), 4-9, 2012
13. ऋग्वेद : 10, 14, 11, एवं आवेस्ता-वेदीदाद, 3, 16, तथा मिल्स, एच. एच: सैकरेड बुक्स लिटुर्गी एंड गाथाज-हाइम्स आफ जरथुस्ट-अवेस्ता-यसना
14. ऋग्वेद : विश्वो मन्यो अभिक्षाण एति 12, 40, 5
15. यजुर्वेद : तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान-17, 58
16. तैत्तिरीय ब्राह्मण : पूषन : पोषण महां दीर्घ्युत्वाय शतशरदाय शत शरदभ्या : आयुषे वर्चसे-1, 2 1, 19
17. ऋग्वेद : योनः पूषन्नद्यो वृको दुःशेव आदि देशाति । अप स्मतं पथो जाहि । 1,42, 2
18. ऋग्वेद : मंडल 6, सूक्त 48, 16-19
19. ऋग्वेद : 1,42, 1-3, :6, 54, 9, : 10, 59, 7
20. ऋग्वेद : अजाश्व पशुपा वाजस्तयो धियजिन्वो भुवने विश्वेअर्पित : 6, 58, 2
21. ऋग्वेद : अजा अन्यस्य वहयोहरि अन्यस्य सम्भूता । 6, 58.3
22. ऋग्वेद : मंडल - 1, 138, 4, 162, 2-4, मंडल-6, 55, 3, 4, 6, 57, 3, 58, 2, मंडल-9, 67, 10, मंडल-10, 26, 8,
23. ऋग्वेद : मंडल-10, 17, 3, आयुर्वित्तश्वायः परिपासति त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात 10, 17, 4
24. ऋग्वेद : मंडल-1, 122, 11, मंडल-5, 45, 6
25. लारूस एनसाइक्लोपीडिया आफ माईथोलॉजी : रिचर्ड एडलिंग्टन एवं डिलानो एम्स द्वारा अनूठित, वैचवर्थ प्रेस लि. पृ. 133, 136, 220, 157, 1959
26. मालती, जे. शेंडगे : द सिविलाइज्ड डेमन्स, द हड्डपन्स इन ऋग्वेद, अभिनव प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 46, 1977
27. राजीव रंजन उपाध्याय : इटली की प्राचीन इन्कुस्कन सभ्यता में निहित वैदिक तथ्य एवं शवाधानों की भित्तियाँ एवं पात्रों पर उत्कीर्ण रामायण-चित्र, इतिहास दर्पण, 18 (2) 215-232, 2013
28. राजीव रंजन उपाध्याय : ग्रीस और पश्चिमोत्तर भारत के स्थानवाची नामों की उभयनिष्ठता एवं भारतीयों का उन क्षेत्रों के विकास में अवदान, इतिहास दर्पण, 19 (1), 38-54, 2014 एवं सन्दर्भ-2 तथा 27
29. साइक्स, एर्पटन एवं डेंटर, जे.एम. द्वारा प्रकाशित एब्री मेंस डिक्शनरी ऑफ नान क्लासिकल-माईथोलॉजी, अध्याय-10, पृ. 54-61
30. राजीव रंजन उपाध्याय : कुशद्वीप और मिस्र का वैदिक अतीत, इतिहास दर्पण, 18 (1), 75-87, 2013
31. पान : विकीपीडिया ।

गाँधी, धर्म और राजनीति : वर्तमान सन्दर्भ में

नरेश कुमार अम्बष्ट*

महात्मा गाँधी ने भारत के करोड़ों लोगों को राजनीति की शिक्षा दी, अहिंसा और सत्याग्रह के माध्यम से आजादी प्राप्त करने की दीक्षा थी। उनकी सोच स्पष्ट थी कि हिन्दुस्तान को यदि आजादी प्राप्त करनी है तो यहाँ के आम जनजीवन को भयमुक्त होना होगा। उनका प्रयत्न यह था कि देशी राजाओं, जर्मांदारों तथा साम्प्रदायिक नेताओं को अलग करते हुए काँग्रेस को आम जनता का प्रतिनिधि बनायें, धर्म उनका माध्यम था। वे धर्म और राजनीति में अन्तःविरोध नहीं मानते थे। इसलिए धर्म को व्यापक अर्थ में ग्रहण करके करोड़ों आम लोगों को राजनीति में लाये। सप्ताह अशोक ने अपने एक शिलालेख में कहा था—“धर्म को लेकर मत झगड़ो, समझौता की ही सराहना करो। यह मत समझो कि तुमने सम्पूर्ण सत्य पर अधिकार कर लिया है, किसी भी धर्म का सत्य पर एकाधिकार नहीं है, तुम्हें उस ईश्वर को जानने की कोशिश करनी चाहिए जो विभिन्न धार्मिक मार्गों और विभिन्न लोकोत्तर व्यक्तियों में अभिव्यक्त सभी दिव्यताओं से ऊपर है।”¹

गाँधी जी इसी रूप में धर्म को मानते हैं और इसका यही रूप हमारे संविधान में स्वीकार किया गया है। इसमें हमें कहा गया है कि भारत का प्रत्येक नागरिक तब तक अपने धर्म की शिक्षा देने, मानने और प्रचार करने के लिए स्वतन्त्र है जब तक वह अन्य लोगों के विश्वास को आधात नहीं पहुँचाता है।

आज का हमारा सामाजिक जीवन अन्तर्विरोध से आक्रान्त है। धर्म, जाति और वर्ग के नाम पर अपने लोगों का एक झुंड बनाकर संकीर्ण स्वार्थ का महल रखने का नाम सम्प्रदायवाद है। साम्प्रदायिकता का अर्थ दो या विभिन्न धार्मिक समुदायों की वह भावना है जो उसे अलग करती है एवं हिंसात्मक कार्य के लिए प्रेरित करती है। दो या दो से अधिक धार्मिक समुदायों के मध्य तनाव और हिंसा जिस मानसिकता या

* प्रोफेसर, पी.के.राय स्मारक महाविद्यालय, धनबाद, प्रो. रीना भारती, तथागत बी.एड. कॉलेज, धनबाद।

विचारधारा को जन्म देती है उसे साम्प्रदायिकता कहते हैं। जब कोई सम्प्रदाय राष्ट्रीय से अलग होकर राष्ट्र की अखंडता एवं एकता के मूल्य पर अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति करता है। साम्प्रदायिकता मनुष्य और समुदाय की राक्षसी प्रवृत्ति का परिचायक है। साम्प्रदायिकता अपने आप में मानसिक रोग है। यह आर्थिक विषमता और सामाजिक अन्याय पर आधारित व्यवस्था से उत्पन्न होता है। जब आदर्शों एवं सिद्धान्तों को व्यवहार में लागू नहीं किया जाता है, ऐसी स्थिति में उत्पन्न रिक्तता को जो विकृतियाँ भरती हैं उसमें साम्प्रदायिकता प्रमुख है। हिन्दू-मुसलमान दो सम्प्रदाय हैं और जब तक इन लोगों ने आपसी एवं सामाजिक मतभेदों को भुलाकर एक सामाज्य राजनीति लक्ष्य के प्रति अटूट रुचि नहीं दिखलाई, तब तक अंग्रेजों के नृशंस शोषण और अत्याचार से मुक्त नहीं हुए, फिर भी कुछ ऐसे अक्खड़, दम्भी और दुष्प्रवृत्ति वाले नेतागण थे जिनकी हठधर्मिता के कारण हमारे देश का विभाजन किया गया और दो अलग राष्ट्र का निर्माण हुआ। देश का विभाजन हुआ, साम्प्रदायिक दंगे हुए, खून की नदियाँ बहीं, हिंसा और पारस्परिक कटुता की भावना से देश सन्त्रस्त-पीड़ित हो उठा। विभाजन के पीछे मात्र साम्प्रदायिक शक्तियाँ थीं, जिसे नियन्त्रित करने में शायद महात्मा गाँधी भी असमर्थ सिद्ध हुए। देश का बँटना कोई भौगोलिक आवश्यकता नहीं थी। अपितु यह एक दोषपूर्ण साम्प्रदायिक भावना का प्रतिफल था। साम्प्रदायिकता एक मुकम्मल प्रवृत्ति है। यह एक बीमार विचार है जिसे स्वस्थ विचारों जरिए ही समाप्त किया जा सकता है। पूरी दुनिया आज हिंसा और आतंकवाद से ग्रस्त है या सोचने को बाध्य है कि अहिंसा का पाठ गाँधी जी ने पढ़ाया था उस पर अमल करके ही विश्व शान्ति तथा अमन-चैन सुनिश्चित किया जा सकता है। महात्मा गाँधी की प्रासांगिकता जो पिछली शताब्दी में थी वह इस नई शताब्दी में भी क्रमशः बढ़ती जा रही है। यदि मानवता को सचमुच शान्ति और बन्धुत्व से रहना है तो गाँधी जी की ओर जाने के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं है। गाँधी जी के बताये रास्ते से ही मनुष्य निर्भय होकर विकास की सच्ची पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। भौतिक वातावरण के असर से मनुष्य के विचार बदलते हैं। मनुष्य के विचारों पर वातावरण का असर पड़ता है और वह बदलता है। भारतीय समाज में यह स्वीकृत तथ्य है कि विकास जो भी हो, चारित्र्य शुद्ध है तो व्यक्ति श्रेष्ठ हो जाता है, फिर वह किसी जाति या धर्म का क्यों न हो। रैदास इसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

भारत को यदि सबल विकसित होना है तो इसे किसी खास समूह को खुश करना नहीं बल्कि कानून और सामाजिक, आर्थिक व्यवहार में सभी नागरिकों की सभ्यता धर्म-निरपेक्ष लोकतन्त्र का लक्ष्य है। कुछ लोग चाहे कुछ भी कहें भारत हिन्दू राष्ट्र नहीं बन सकता, नहीं तो देश टुकड़ों में बँटेगा। आज अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा ने भी सिरीफोर्ट के अपने भाषण में कहा है कि “भारत एक अद्भुत क्षमता विन्तन-सृजन, वर्ष-12, अंक-4

वाला देश है। यदि इसे विकसित होना है तो इसे अपने अन्य धर्मवाले को भी साथ लेकर चलना होगा।” इसके विपरीत ऐसी सोच वाले पर तरस आता है वे बेहद अज्ञानी हैं। उन्हें यह मालूम ही नहीं है कि दुनिया ने आज जो तरकी की है, उसमें सहिष्णुता, उदारता और वैज्ञानिकता का कितना बड़ा योगदान है।

जो सम्प्रदाय धर्म-परिवर्तन में विश्वास करते हैं, वे परोक्ष रूप से ऐसा मानते हैं कि उनका धर्म ही एक मात्र धर्म है उनका पथ ही सर्वोत्तम है। यही कारण है कि वे अन्य धर्मालभियों को पथ से व्युत कराकर उन्हें अपना मार्ग दिखाते हैं। आज धरती सिमटकर छोटी-सी बन गई है और एक छोटी-सी हलचल भी सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित करती है तब धर्मों की हठवादिता और आपसी कलह से मानवता की सुख-शान्ति को अत्यन्त खतरा है। इसलिए आज हमें स्वस्थ विचारों को अपनाना आवश्यक है।

गाँधी जी मानते हैं कि सभी धर्म सही और सच्चे हैं। सभी धर्मों में थोड़ी-बहुत बुगाइयाँ हैं। सभी धर्म उनके लिए अपने हिन्दू धर्म के समान ही प्रिय है। गाँधी जी का कहना है कि हर व्यक्ति को दूसरे धर्म की अच्छाइयों को ग्रहण करना चाहिए और अपने धर्म के दोष को दूर करना चाहिए। दूसरे धर्म के समादर का अर्थ उसके दोषों का समादर नहीं है और न ही अपने धर्म के प्रति आदर का मतलब उसके दोषों को छिपाना है। गाँधी जी धर्म को कमोबेश एक जीवन-शैली के रूप में लेते थे और इस रूप में धर्म एक अत्यन्त व्यक्ति प्रिय विषय हो जाता है क्योंकि किसी भी जीवन-शैली के चुनने के लिए मनुष्य बिल्कुल स्वतन्त्र होता है। इसलिए उसे अपनी पसन्द अपनी सुचि के अनुसार अपना धर्म चुनने की छूट होनी चाहिए। गाँधी जी के शब्दों में “धर्म एक ही बिन्दु पर मिलने वाले भिन्न-भिन्न रास्ते हैं। यदि अन्त में हम एक ही लक्ष्य पर पहुँचते हैं तो अलग-अलग रास्ते पर चलने में हर्ज क्या है? वास्तव में जितने लोग हैं, उतने ही धर्म हैं।”² मौलाना आजाद का यह भाषण जो उन्होंने 1940 में रामगढ़ कांग्रेस में दिया उसे उद्घृत करना चाहूँगौं—“ग्यारह शताब्दियों के इस मिले-जुले इतिहास से हमारे हिन्दुस्तानी जीवन के सारे क्षेत्रों को रचनात्मकता के नए प्रकाश से रोशन कर दिया है। हमारी भाषाएँ, हमारी कविता, हमारा स्वभाव, हमारे वस्त्र, हमारे रीति-रिवाज, हमारे दिन-प्रतिदिन के असंख्य तथ्य, कोई क्षेत्र भी ऐसा नहीं जिस पर इस मिले-जुले जीवन की छाप न लग सकती हो। हमारे रीति-रिवाज एक-दूसरे से मिलने थे। मगर इन्होंने मिले-जुले कर एक नया साँचा पैदा कर दिया। हमारे पुराने वस्त्र इतिहास के चित्रों में देखे जा सकते हैं परन्तु अब हमारे शरीर पर नहीं मिल सकते। यह तमाम मिली-जुली दौलत हमारी संयुक्त राष्ट्रीयता की दौलत है और हम इसे छोड़कर उस जमाने की ओर नहीं लौटना चाहते जब हमारा यह मिला-जुला जीवन आरम्भ नहीं हुआ था। इसमें अगर ऐसे हिन्दू दिमाग हैं जो चाहते हैं कि एक हजार

वर्ष पहले का हिन्दू जीवन वापस लाये तो उन्हें मालूम होना चाहिए कि वह एक सपना देख रहे हैं और वह पूरा नहीं होने वाला है। इसी प्रकार अगर ऐसे मुसलमान दिमाग मौजूद हैं जो चाहते हैं कि अपनी गुजरी हुई सभ्यता को फिर ताजा करें जो एक हजार वर्ष पूर्व ईरान और मध्य एशिया से लाये थे तो मैं कहूँगा कि इस स्वप्न से जितनी जल्द हो सके जाग जायें तो अच्छा है। क्योंकि यह एक ऐसा विचार है जो कि वास्तविकता की भूमि पर कभी उग नहीं सकता।”³

एक तरफ भारत के सांसद साक्षी महाराज, साधी निरंजन एवं महन्त आदित्य नाथ हैं जो अनर्गल बयान रोज देते हैं तो दूसरी तरफ मजहबी ओवेसी है जो रक्तपात का हुंकार करता है। लेकिन मेरा मानना है कि भारत चलेगा गंगा-जमुना संस्कृति से। भारत को यदि विकसित होना है तो विभिन्न धर्मों के लोगों के वैचारिक एकता से। सदियों से भारत एक राष्ट्र रहा है क्योंकि भारतीय संस्कृति अलग संस्कृति को अपने अन्दर समाहित कर लेती है। इसलिए डॉ. एकबाल ने कहा है कि—

कुछ बात है कि हस्ती मिट्टी नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जहाँ हमारा।

ईश्वर तक पहुँचने का सर्वोत्तम मार्ग मानव सेवा है। लेकिन देशभक्ति को गाँधी जी ने संसार में प्रचलित संकृति अर्थ में ग्रहण नहीं किया। उनकी देशभक्ति का अर्थ था—मानव धर्म। उनके अनुसार हम सब सम्बन्धी हैं, एक ही परिवार के सदस्य हैं। इस प्रकार का धर्म उन्होंने हमें सिखाया और स्वयं इसे अपनाया। यह धर्म मनुष्य को मनुष्य बनाने वाला है। यह मानवीय धर्म है। साधक जीवन और समाज सेवा में कोई अन्तर नहीं है दोनों एक ही अर्थ के दो शब्द हैं और एक ही तत्त्व के दो अंग हैं जो सभी धर्मों में पाये जाते हैं।

सच्चे अर्थ में लोकतन्त्र में आस्था रखने वाले व्यक्तियों को किसी प्रकार के भ्रष्टाचार को, भाई-भतीजावाद को और जातीय पूर्वाग्रहों और दंगे-फसाद बर्दास्त नहीं करना चाहिए। ये बुराइयाँ सारे देश में फैली हुई हैं और उन्होंने हमारे देश को अपमानजनक स्थिति में पहुँचा दिया है। हम निदान भी जानते हैं तथा उपचार भी और हमें करना सिर्फ यह है कि हम प्राचीन ऋषियों के आदर्शों पर ध्यान दें, चाहे किसी भी धर्म के अनुयायी हम क्यों न हों। लोकतन्त्र की हमें गम्भीरता से रक्षा करनी चाहिए। वर्तमान लोकतान्त्रिक कानूनों को पूर्ण रूपेण लागू कर लोगों में विश्वास उत्पन्न किया जाये कि कोई भी आपके विश्वास का अपमान नहीं कर सकता है भले ही वह ऊँचे-से-ऊँचे पदों पर आसीन हो।

सन् 70 के बाद से राजनीतिक स्थिति बिगड़ती ही चली गई। वर्तमान राजनीति में नैतिक संकट है। आजादी के बाद सार्वजनिक जीवन में विद्वान एवं सच्चरित्र लोग राजनीति में सक्रिय थे वे पूर्णतया भद्र लोग थे। 60-70 के बीच ऐसे लोगों की कमी

विन्तन-सृजन, वर्ष-12, अंक-4

राजनीति में आई। दुर्भाग्य से 70 के बाद हमारे राजनेता भ्रष्ट, जातिवादी, सम्प्रदायवादी तथा अराजक हो गये। ऐसे नेताओं की संख्या इतनी है कि आश्चर्य होता है लगता है कि सारी व्यवस्था भ्रष्ट हो गई है। सत्ताधारियों, सत्तालोलुपों और सत्ता के दलालों ने हमारे संविधान की धन्जियाँ उड़ा दी हैं। आज जिस पार्टी को बुरा-भला एवं भर्त्सना करते हैं उसी में शामिल होकर सत्ता में शामिल हो जाते हैं। न तो ये राजनेता वामपन्थी हैं न तो दक्षिणपन्थी। मात्र भ्रष्ट और चुनाव में करोड़ों खर्च होता है जो आम कार्यकर्ता सोच नहीं सकता। सत्ता के संघर्ष में क्षेत्र, धर्म, जातियों और उपजातियों के नाम पर बोट बैंक बनाये जाते हैं। विकास के नाम पर धन कुबेर को मदद पहुँचाई जाती है पर क्या इस प्रक्रिया में राष्ट्र, समाज या आमजन का लाभ? संविधान की दुहाई दी जाती है और वही लोग संविधान के मूल आधारों को छिन्न-भिन्न कर रहे हैं। दंगे करवाये जाते हैं ताकि बोट का धुग्गीकरण हो जाये। मैं विनम्रतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि –हम राष्ट्रनिर्माताओं की शिक्षाओं एवं कृतित्व को समझने का प्रयास करें। सभी धर्माचार्य एवं साम्प्रदायिक दृष्टिकोण तथा दलिय राजनीति त्याग कर राष्ट्रीय हितों के बारे में सोचना चाहिए।

सरदार पटेल हिन्दू-मुस्लिम एकता को सर्वाधिक महत्वपूर्ण नहीं मानते थे, लेकिन उनका कहना था कि जब तक अंग्रेज भारत पर शासन करेगा यह एकता सम्भव नहीं। इसलिए प्रारम्भ से ही सरदार पटेल ने अपनी सारी ताकत ब्रिटिश राज के खिलाफ लड़ने में लगा दी परन्तु साम्प्रदायिक एकता या समन्वय के लिए वे लगातार प्रयत्नशील रहे हैं। उनके एक पत्र को उद्धृत करना चाहूँगा जो उन्होंने 9 जनवरी, 1950 को श्री गोविन्द बल्लभ पन्त जी को लिखा : –

प्रिय पन्त जी,

प्रधानमन्त्री ने आपको एक तार भेजा है, जिसमें उन्होंने अयोध्या की घटनाओं पर अपनी चिन्ता व्यक्त की है। लखनऊ में मैं इस बारे में आपसे बातचीत कर चुका हूँ। मुझे लग रहा है कि देश और आपके प्रान्त, दोनों की दृष्टि से यह मुद्दा अत्यंत अनुपयुक्त समय पर उठाया गया है। हाल ही में हमने व्यापक साम्प्रदायिक मसले विभिन्न समुदायों को सन्तुष्ट करते हुए सुलझाये हैं। जहाँ तक मुसलमानों का सम्बन्ध है, नई निष्ठाओं के प्रति अभी स्वयं को तैयार ही कर रहे हैं। अब हम कह सकते हैं कि विभाजन का पहला धक्का और उससे उत्पन्न अस्थिरता अभी समाप्त हो रही है और इस बात की कोई सम्भावना नहीं है कि अब बड़े पैमाने पर निष्ठाओं का स्थानान्तरण होगा। आपके प्रान्त में साम्प्रदायिक समस्या हमेशा से ही कठिन रही है। मैं समझता हूँ कि यह आपके प्रशासन की बड़ी उपलब्धि है कि अनेक कठिनाइयों के बावजूद 1946 से लेकर अब तक साम्प्रदायिक सम्बन्धों में सामान्यतः सुधार हुआ है।

समूहीकरण के परिणामस्वरूप यू.पी. में हमारी संगठनात्मक एवं प्रशासकीय कठिनाइयाँ हैं। यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण होगा यदि हम इस मुद्दे पर किसी समूह को लाभ लेने दें। इसलिए इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए मैं समझता हूँ कि यह विवाद दोनों समुदाय सौहार्दपूर्ण तरीके से अपनी सहनशीलता सद्भाव से सुलझायें। मैं इस बात को समझता हूँ कि जो कुछ हुआ है, उसके पीछे भावनाएँ हैं, लेकिन ऐसे विवाद तभी शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाए जा सकते हैं। यदि हम मुसलमान समुदाय की सहज सहमति लेकर चलें। ऐसे विवादों को ताकत से सुलझाने का कोई प्रश्न नहीं उठता। वैसी स्थिति में कानून-व्यवस्था की ताकत को हर कीमत पर शान्ति बनाये रखनी होगी। इसलिए यदि शान्तिपूर्ण एवं विश्वास उत्पन्न करने वाले तरीके अपनाये जाते हैं तो आक्रमकता तथा दबाव पर आधारित एक पक्षीय कारवाई नहीं की जा सकती है। इसलिए इस बात से मैं पूर्ण सहमत हूँ कि मामले को उत्तेजनात्मक मुद्दा नहीं बनाया जाना चाहिए तथा वर्तमान दुर्भाग्यपूर्ण विवाद को शान्तिपूर्ण तरीके से सुलझाया जाना चाहिए। स्वीकृत तथ्यों को शान्तिपूर्ण समझौते की बाधा नहीं बनने दिया जाना चाहिए। मुझे आशा है कि इस दिशा में आपके प्रयास सफल होंगे।

आपका
वल्लभ भाई पटेल

उनका यह पत्र ऐतिहासिक महत्व का है और आज भी प्रासंगिक है, क्योंकि दो समुदायों की धार्मिक भावनाओं को प्रभावित करने वाले विवादों को सुलझाने के लिए इसमें दिशानिर्देश दिया गया है। एस.गोपाल ने लिखा है, “सामान्यतः पटेल को हिन्दू राष्ट्रवाद का समर्थक माना जाता है, पर वस्तुतः उनकी प्रमुख चिन्ता राष्ट्रीय एकता थी।” 1946-47 की हिंसात्मक कार्रवाईयों का मुख्य कारण पाकिस्तान के पक्ष-विपक्ष में किये जाने वाले प्रचार और आन्दोलन से पैदा हुई उत्तेजना और तनाव ही थे। इस सारे आन्दोलन की बुनियाद इस गलत और विद्वेषपूर्ण धारणा पर रखी गई थी कि हिन्दू और मुसलमानों में न कभी एकता थी, न आज है और न आगे कभी हो पायेगी। ऐसी नाजुक घड़ी में सरकार और प्रशासन तन्त्र का हाल और भी बुरा था। देश की इस विस्फोटक स्थिति को गाँधी जी से अच्छी तरह से कौन समझ सकता था लीग की सीधी कार्रवाई दिवस के कलकत्ता उपद्रवों पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा था, “अभी गृह युद्ध तो नहीं छिड़ा है लेकिन उसमें देर भी नहीं है।” अक्टूबर 1946 में जब वह दिल्ली से नोआखाली के लिए रवाना हुए तब से धार्मिक उन्माद का शमन ही उनका खास काम हो गया था। गाँधी जी के प्रयासों से जब बात नहीं बनी तो उन्होंने पहली सितम्बर से अनशन करने की घोषणा कर दी—जब तक कलकत्ते में शान्ति स्थापित नहीं होगी, वह अपना उपवास नहीं तोड़ेंगे। “जो मेरे कहने से नहीं हुआ, वह

शायद मेरे उपवास से हो जाये।” उपवास की घोषणा ने सारे कलकत्ते को हिला कर रख दिया। मुसलमान विचलित हो उठे और हिन्दू लज्जा से नतमस्तक, यहाँ तक की कलकत्ता के गुंडों की भी हिम्मत गाँधी जी का खून अपने हाथ में लेने की नहीं हुई। ट्रकों में हथियार अधिकारियों के पास जमा करवायें। दोनों कौमों के नेताओं ने आपस में शान्ति बनाए रखने की प्रतिज्ञा की और गाँधी जी को अनशन समाप्त करने के लिए राजी कर लिया। गाँधी जी इस शर्त के साथ उपवास तोड़ा कि यदि फिर शान्ति भंग हुई तो वह आमरण अनशन कर देंगे।

कलकत्ते के उपवास ने जादू का काम किया। लन्दन के संवाददाता ने कहा था कि जो काम सेना के कई डिविजनों से न हो पाता उसे एक उपवास ने कर दिखाया। उसके बाद कलकत्ता और बंगाल में कोई गड़बड़ी नहीं हुई। कम-से-कम वहाँ से तो साम्राज्यिकता का भूत उत्तर चुका था।

भारत की नींव धर्म निरपेक्षता पर खड़ी है। लोकतान्त्रिक समाज यह आधार है। धर्म-निरपेक्षता वाकई निरपेक्ष भाव से आस्तिकों और नास्तिकों को साथ में फलने-फूलने का मौका देती है। इसलिए कटूरता की गोलियों पर सौंस लेने वाली पार्टियाँ समाजवाद और धर्म-निरपेक्षता को कभी स्वीकार नहीं कर सकती।

कुछ नेताओं के भाषण भड़काऊ हैं। समाज में शान्ति बनाने की जिम्मेदारी सरकार की है। वर्तमान समय की सारी बुराइयों को दूर करने का एकमात्र उपाय गाँधी जी के बताये हुए रास्ते हैं। उन्होंने कहा था कि “एक हद तक शारीरिक सुविधा और आराम का होना जरूरी है, लेकिन उससे आगे बढ़ने पर ये सुविधाएँ और आराम सहायक बनने की बजाय हमारी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक बन जाते हैं... मनुष्य को अपने शारीरिक सुखों और सांस्कृतिक सुविधाओं की ऐसे ढंग से व्यवस्था करनी चाहिए कि वे उसकी मानव सेवा में बाधक न बनें। मनुष्य की सारी शक्तियों का उपयोग मानव-सेवा में ही होना चाहिए।”⁴ एक सद्विप्रा बदुध वदन्ति।

एक ही तत्त्व की व्याख्या ज्ञानी लोग बहुत प्रकार से करते हैं। मतों या सम्प्रदायों के अनेक मार्ग ज्ञान के पर्वत की एक ही ऊँची चोटी तक ले जाते हैं। आकाश में बरसे हुए जल जैसे समुद्र में मिल जाते हैं, वैसे ही मतों के विश्वास और भक्ति भाव एक ईश्वर में मिलते हैं। भारतीय इतिहास की सबसे बड़ी देन सामाजिक सहिष्णुता है मनुष्यों की रुचियाँ अलग-अलग हैं इसलिए उसके चलने के टेढ़े-मेढ़े रास्ते भी अनेक हैं। लेकिन वे सब ईश्वर में जा मिलते हैं। जैसे सब नदियाँ समुद्र में लीन हो जाती हैं। गाँधी जी ने स्वयं ही कहा है “धर्म वस्तुतः बुद्धिग्राह्य नहीं हृदयग्राह्य है। वह ऐसी वस्तु नहीं जो अपने से अलग हो, वरन् ऐसी वस्तु है जिसे हमें अपने अन्दर से ही विकसित करना है। वह सदा हमारे अन्तर में ही है। कुछ लोगों को उसका भान है और दूसरे कुछ लोगों को उसका जरा भी मान नहीं है... धर्म एक व्यक्तिगत संग्रह

है। समुदाय में जिसकी रक्षा सम्भव है वह धर्म नहीं मत है।” गाँधी जी के धर्म सम्बन्धी विचारों में अध्यात्मवाद, मानवतावाद, सर्व-धर्म-समझाव, नैतिक शुद्धतावाद आदि सभी प्रवृत्तियाँ एक साथ घुल-मिल गई हैं। समकालीन भारतीय विचारधारा में महात्मा गाँधी का स्थान सर्वोपरि है। उनका सम्पूर्ण जीवन इन नैतिक आदर्शों को व्यावहारिक रूप देने का प्रयोग हैं जिन्हें उन्होंने अपने जीवन के सिद्धान्तों के रूप में स्वीकार किया। गाँधी जी ने साम्राज्यिक एकता के लिए जो कुछ किया वह भारत क्या, विश्व के इतिहास में बेमिसाल है। यद्यपि उनकी हत्या साम्राज्यिक विचारों के कारण ही हुई तथा आज भी उनकी मृत्यु के पश्चात देश में साम्राज्यिक दंगों की संख्या और उसकी तीव्रता में वृद्धि हुई है फिर भी उसके समाधान के लिए उनके द्वारा बताये गये साधन आज भी उपयोगी और महत्वपूर्ण हैं।

सन्दर्भ

1. राधाकृष्णन हमारी विरासत पृ. 9
2. Selection from Gandhiji—N.K. Bose, Navjeevan, Ahmadabad Apr. 1957
3. आधुनिक भारत के निर्माता मौलाना अबुल कलाम आजाद—सूचना प्रकाशन विभाग 1947.
4. Selection from Gandhiji पृ. 39।

अंगिका के लोकगीतों का सांस्कृतिक स्वरूप

मृत्युंजय उपाध्याय*

पुराणों से ज्ञात होता है कि राजवंशों का इतिहास लिखना उनके उद्देश्यों में एक था। वहाँ उल्लेख है कि अंग संघ राज्य न होकर एक राजा के अधिकार में रहने वाला राज था। भारत युद्ध के 95वीं पीढ़ी पहले आर्यों का मानववंशीय राज्य अयोध्या में तथा ऐलवंशीय राज्य प्रतिष्ठान में स्थापित था। प्रतिष्ठान के ऐलवंश में इक्ष्वाकु का समकालीन राजा पुरुरवा हुआ। उसका पोता नहुष और परपोता ययाति था। प्रतापी ययाति ने सम्पूर्ण गंगा-यमुना के दोआब और उससे सटे दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश को जीतकर अपने चार लड़कों (तुर्वसु, यदु, द्रह्यु और अनु) में बाँट दिया था। अनु का वंश 'आनव' कहलाया, जिससे महामना नामक बड़ा ही शक्तिशाली राजा हुआ। महामना के एक पुत्र तितिक्षु का राज्य पूर्व दिशा में स्थित था।¹ वायुपुराण से भी इसकी पुष्टि होती है।² सम्भवतः तितिक्षु ने विदेह और वैशाली राज्यों, पूरब आधुनिक मुंगेर और भागलपुर में एक नए आनव राज्य की स्थापना की थी।³

रामायण के अनुसार कामदेव शिव के क्रोध से जल जाने के भय से भागे और जहाँ उन्होंने शरीर त्याग किया, वह अंग विषय कहलाने लगा।⁴ कनिंघम के अनुसार आधुनिक मुंगेर जिले के अन्दर पड़ने वाला क्षेत्र प्रथम आर्य वाशिन्दों के मध्यप्रदेश के अन्तर्गत था।⁵ 'कथासरित्सागर' के अनुसार अंग का प्रसिद्ध नगर विटकपुर समुद्र के किनारे था।⁶ 'शक्तिसंगमतन्त्र' के अनुसार वैद्यनाथ से भुवनेश्वर तक अंग का विस्तार हुआ। मत्स्यपुराण में अंग की राजधानी चम्पा बताई गई है, जिसका प्राचीन नाम मालिनी था। बौद्धग्रन्थों और व्येनसांग के यात्रा-विवरण में उसकी समृद्धि का उल्लेख है। वह वाणिज्य का प्रधान केन्द्र था तथा वहाँ से सुवर्णभूमि (बर्मा का दक्षिणी भाग, सुमात्रा) तक लोग व्यापार के लिए जाया करते थे।

*प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, डी.लि.ट. 9/21 वृन्दावन, मनोरम नगर, एल.सी. रोड, धनबाद-826001, झारखंड। मोबाइल : 09334088307

वैदिक संस्कृति के निर्माण में मिथिला और मगध के साथ अंग का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। बुद्ध की प्रमुख शिष्या विशाखा ने अंगक्षेत्र में ही जन्म लिया था, जिसका नाम कालान्तर में मिगारमाता पड़ा। बुद्ध ने अनेक बार श्रावस्ती से भद्रिय के लिए प्रस्थान किया। यह सम्भवतः गंगा तट पर मुंगेर के आस-पास था और प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था। यहाँ रहते हुए बुद्ध ने भद्राजी नाम के एक सेठ को अपना शिष्य बनाया था। बुद्ध के शिष्य मौद्रगल्यायन ने मोदगिरि (मुंगेर) के श्रेष्ठी श्रुतिविंशतिकोटि को दीक्षा दी थी।⁶

इस अंग प्रदेश में बोली जाने वाली बोली है 'अंगिका'। महापन्दित राहुल सांकृत्यायन इसे 'अंगिका' कहते हैं। उन्होंने ही इसके महत्व की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने अंगिका क्षेत्र के अन्तर्गत भागलपुर, मुंगेर और पूर्णिया को लिया है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख 1810 ई. में फ्रांसिस बुकानन ने किया और इसे हिन्दी नाम से अभिहित किया। उन्होंने इसे मैथिली के समान बताया। भिन्नता उतनी ही है, जितनी मैथिली से पूर्णिया की भाषा की है।⁷ डॉ. कामेश्वर ने इसे 'भागलपुरी', ग्रियर्सन ने 'छिकाछिकी' और डॉ. महेश जी ने 'अंगिका' इसका नाम दिया।

इसी अंगिका के लोकगीतों में भारतीय संस्कृति, धर्म, अध्यात्म का निरूपण हुआ है। अंगिका में संस्कार गीतों की प्रधानता और बहुलता है। लोकगीतों का एक महत्वपूर्ण अंग है संस्कार गीत, जो जीवन के विविध संस्कारों के अवसरों पर गाए गये हैं। इन गीतों में हमारा अतीत राग है कि हम सोने के कटोरे में दूध-भात खाते थे। मेरी पत्नी सोने के झूले पर पिंग भरती थी। हम स्वर्ण गौ का दान करते थे। मेरी पुत्रियाँ राम, शिव, विष्णु से विवाह करती थीं। दूध-दही की वर्षा होती थी। घर, आँगन, पिछवाड़ा सोने के धान से भरा रहता था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक कविता है 'स्वर्णतरी'। नौका में इतना सोना भरा है कि तिल रखने की जगह नहीं है। यह रूपक तो मनुष्य की अनन्त शक्तियों और सम्भावनाओं का है कि वहाँ अशिव, अमंगल, दैन्य, पराजय के लिए कोई स्थान ही नहीं है। परन्तु यहाँ तो जीवन में विषमता, दीनता, पराजय और हताशा भी है। इसलिए हम हो जाते हैं अतीतजीवी। उसे याद कर, वहाँ थोड़ा सुस्ताकर नई शक्ति उत्साह के साथ जीवन समर में आरूढ़ होते हैं। फिर झुलसा अतीत भी सुखद लगता है।

काल को हम बाँध नहीं सकते। वह अपने प्रवाह में बहा जा रहा है। हम हैं कि वर्तमान में रहकर अर्जुन की तरह धनुष की प्रत्यंचा को पीछे खींचते हैं और लक्ष्य-सन्धान (भविष्य) करते हैं। सच पूछिये, तो काल तो निरवधि और निरुपाधि है। हमारा अस्तित्व ही अवधि और उपाधि की परिधि का चक्कर खाता रहता है। काल पर जिसे विजय प्राप्त है, वह तो एक ही है काली। हमारा शरीर वर्तमान में जरूर दिखता है, परन्तु उसका यह तात्पर्य बिल्कुल नहीं होता कि हम वर्तमान में जीते हैं,

हमारा मन या तो अतीत में जीता है या भविष्य में। कुछ अतीत व्यतीत अवश्य हो जाता है। उसी तरह कुछ भविष्य दुर्भेद्य ही रहता है। प्रत्येक अतीत भूत या भूतकाल है अथवा प्रेत या प्रेतशिला है। अतीत और घटित ही भूत बनता है। घटमान और अघटित कभी भूत नहीं बन सकता है। मनुष्य तो भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों है। हर आदमी थोड़ा-बहुत भूत भी है। प्रकृति का नियम है नाश किसी का नहीं होता। ‘नश अदर्शन’ का व्याकरण दर्शन ही सर्वोच्च जीवन-दर्शन है।

वर्तमान दुःखद, निराशापूर्ण हो, तो अतीत का वैभव स्वर्णकाल अवश्य स्मरण में आता है। साथ-साथ चलता रहता है एक भव्य आदर्श, चरित्र, उद्देश्य की खोज, उसकी याद। पुत्र नहीं होने की अवस्था में नारायण के समान पुत्र की कामना। काशी, सूर्यदेव, वैद्यनाथ की आराधना के बाद भी पुत्र-प्राप्ति न होने से निराश।

आँगन जे नीपल ओसरवा लागी ठाढ़ भेल हे।
नारायन, बिनु बेटा के हवेलिया कि मनहूँ न भावै हे।
काली सेवलाँ कुसेसर सेवलाँ से आरो आदित बाबा हे।
राजा सेवलाँ मैं बाबा बैजनाथ कि तैयो मोरा आस न पुरलै हो॥⁸

इसमें करुणा और वात्सल्य भरा है, पर प्रभु के प्रति प्रार्थना, गुहार भी है। राम, कृष्ण, शिव, सूर्यदेव, दुर्गा, काली, विष्णु आदि से सम्बन्धित कई लोकगीत हैं। इन गीतों से जहाँ अतीत के प्रति प्रत्यावर्तन होता है, वहाँ भक्ति का भाव भी जगता है। भोले-भाले लोग प्रभु के निकट रहते हैं। ‘भोले भाव मिलहिं रघुराई’।

कृष्ण-जन्म से सम्बन्धित लोकगीतों में उनकी महत्ता, अनन्तशक्ति और प्रकाश का चित्रण ध्यातव्य है :

जब जनमल मध्यसूदन, सब बन्धन छूटल रे।
ललना, जनमल कंस-निकन्दन जगपालक रे॥
होरिला के हाथ हम देखन संख चकर गदा छल रे।
ललना गलबा में सोभे मोहरमाला कानें दोनों कुँडल रे॥⁹

संस्कृत के श्लोक में ऐसा ही वर्णन है—

सशंख चक्रं सकिरीट कुण्डलम् सपीत वस्त्रम् सरसी रुहेक्षणम्।
सहार वक्षस्थल कौस्तुभश्रियम् नमामि विष्णु शिरसा चतुर्भुजम्॥

कृष्ण से सम्बन्धित कई लोकगीत हैं। एक लोकगीत में कृष्ण की बाँसुरी की आवाज सुनकर राधिका को नींद नहीं आती है। वह यशोदा के पास ऊलाहना देने जाती है, “आप अपने लड़के को मना कर दें। वह मेरे आँगन में आया करता है।” यशोदा का उत्तर है “जब तक कृष्ण बच्चा था, तब तक मेरी बातें मानता था। अब तो युक्त हो गया, मेरी बातें क्यों मानने लगा? तुम स्वयं इस प्रकार का साज शृंगार

छोड़ दो। कन्हैया आकर्षण नहीं रहने पर स्वयं आना छोड़ देगा।” राधिका भला क्यों माने। मना करने पर उसका साज-शृंगार बढ़ता ही गया :

मेटि लेहो दाँत दन्तमिसिया नैनमा भरि काजर हे।
ललना रे, लट लट लेहो छिरिआय कन्हैया आँगन छोड़ि देतै हो॥
आहे दाँत में लगेवे दन्तमिसिया नैनमा, भरि काजर हे।
ललना रे कसि कसि बान्धवे गेडुलिया, कन्हैया के लोभायब हे॥¹⁰

राधा-कृष्ण हैं अंगिका के गीतों के लोकनायक। अतएव, नाना प्रसंग बनाकर उनकी चर्चा होती रहती है।

एक बार राधा अपनी सास यशोदा से शिकायत करती है कि रात उसकी पलंग से उसके गले का हार चोरी चला गया है और कृष्ण माँ से शिकायत करते हैं कि उनकी बहुमूल्य बाँसुरी रात बिछावन से गायब हो गई है। यशोदा माजरा समझ जाती है और कृष्ण को समझाती है—“तुम हार दे दो और तुम्हें बाँसुरी मिल जायेगी।” कृष्ण के यह कहने पर कि उसकी बाँसुरी केवल बाँस की नहीं साढ़े तीन सौ की है। वह प्रेम संगीत सुनाती है। राधा का उत्तर है “मेरा हार भी पीतल का नहीं वरन् विशुद्ध सोने का है तथा उसमें नन्दलाल बसते हैं। इसकी कीमत साढ़े सात सौ है।” फिर यशोदा राधा को वस्त्राभूषण पहनाकर वृन्दावन में नृत्य करने के लिए प्रेरित करती है।

कहितें में आहे सासु लाज लागे, कहितें सरम लागे हे।
ललना रे रात भेल पलंग पर चोरी हार मोर हेराय गेल हे।
कहितें में हे माता सरम लागे कहितें में लाज लागे हे।
ललना रे, रात भेल बिरदावन में चोरी बँसुरिया मोर हेराय गेल हे॥

ऐसे प्रसंगों से लोगों में आनन्द का संचार होता है। अपने आराध्य-आराध्या के लीला-प्रसंगों से भक्ति का उदय होता है। उनके प्रति श्रद्धा जगती है। फिर प्रेम, समर्पण।

पर्व-त्योहारों में आत्मरक्षा के लिए मनौतियाँ रखना, ईश्वर से अर्चना करना और अपनी-अपनी श्रद्धा-भक्ति के अनुसार विभिन्न देवी-देवताओं के प्रति नाचना, गाना, हर्ष मनाना, रोना-धोना आदि। फलतः छठ, भगवती महेशवाणी, शीतला माता, विष्णुपद, नदी (गंगा, कमला, कोशी, यमुना), साँप आदि के गीत रचे गये हैं। जगरनथुवा, कमरथुवा, ब्रह्म, देवास, ज्ञिज्ञिया, जलपा, गैंया, जादू-टोना, काली बन्नी, डाइन-चक्र, झरनी के गीत आदि।

देवी-देवता की आराधना का मार्ग इसलिए खुलता है कि लोग अपने कार्यों में सफलता चाहते हैं। अपने अभियान में उत्साह, साहस और भविष्य के लिए मंगल। मन तो है भटकने वाला। अत्यधिक चंचल। दस मकार कहे गये हैं। उनमें मन सबसे अधिक चंचल है।

विन्तन-सृजन, वर्ष-12, अंक-4

मनो मधुकरो मेघो मानिनी मदनो मरुत ।
मा मदो मर्कटो, मत्स्यो मकारः दश चंचला ।

मन, भ्रमर, मेघ, स्त्री कामदेव, हवा, लक्ष्मी, अहंकार, बन्दर, मछली—ये दस मकार बड़े चंचल कहे गये हैं। भक्ति के द्वारा मन को बँधना है स्थिर करना है। मन को उद्देश्य के अनुकूल बनाना है। कारण ‘मन के हारे हार है, मन के जीते जीत’ (कवीर)। भक्ति के कारण मन स्थिर हुआ, तो लक्ष्योन्मुख भी होगा, फलतः कार्यसिद्धि होगी।

लोगों की भक्ति का कारण प्रकृति की भीषण विभीषिका से भय भी है। चेचक का प्रकोप इतना भयंकर और जानलेवा था, कि इलाज नहीं था कि उन्हें शीतला माता की शरण में जाना पड़ा। सी.ई.एम. जोड ने ‘द स्टोरी ऑफ सिविलाइजेशन’ में लिखा है कि आदिम जमाने में वर्षा होती थी तो अनवरत, महिनों तक। आग लगती थी, तो जंगल और आस-पास जलकर क्षार-क्षार हो जाता था। इसलिए उनसे त्राण के लिए देवी-देवताओं की कल्पना की गई है। वर्षा का देवता, आग का देवता आदि। There was multiplicity of Gods and Goddesses. वहाँ देवी-देवताओं की बहुलता थी भय के कारण। रक्षा के किसी उपाय के नहीं रहने के कारण।

प्रकृति की विभीषिका से भय हो या उनके दाक्षिण्य, कृपा की आकांक्षा या भविष्य पथ प्रशस्त करने की कामना—अंगिका के गीत सदा तत्पर हैं। निस्सन्तान स्त्री, सूर्य की आराधना करती है। कारण वे प्रत्यक्ष देवता हैं। उनकी मनोकामना पूर्ण कर सकते हैं।

खोयंछा भरि लेलिये तिलचौरी त अदित मनाबली सरुज मनाबली हे ।
ये अदित हमरा पर होबहो दयाल, सन्तति कहिया होएत हे ।

स्त्री गर्भवती हो गई सूर्यदेव की कृपा से तो वह मन-ही-मन कौशल्या की तरह पुत्रवती होने की कल्पना करने लगती है।

दशरथ के ऊँची-ऊँची महलिया कि जरै मानिक दीप हे ।
ललना रे रामचन्द्र धानि मने मन सोचै हे ॥

राम, कृष्ण, शिव, विष्णु उनके आदर्श हैं। आराध्य हैं। उनकी ही कृपा से गर्भधारण, सन्तानोत्पत्ति। फिर उस पुत्रका नाम सम्बोधन राम, कृष्ण के रूप में होता है।

आधी राति बीतलै पहर राति, फेरु विचली रतिया हे ।
ललना रे तखनहिं जनमल नन्दलाल, महलिया उठै सोहर हे ॥¹²

इन लोकगीतों में शिव का विवाह बड़े मनोयोगपूर्वक किया गया है, जिससे शिव-भक्ति का पता चलता है।

उतरहिं राज सें ऐते एक जोगी, बैठि गेले कवन बाबू के दुआर हे ।
ऐंगना बोढ़ते तोहें सलखो गे चेरिया जोगी भीखि देहु छाइत दुआर हे ॥¹³
उधर गौरी का प्रण ‘वरैंतो सम्भु नहिं रहों कुमारी’ का भी वित्रण है।
फूल तोरे गेली गौरी हे, ओहि फूलवारी ।
बसहा बढ़ल सिव हे, करै पुछारी ॥¹⁴

सुल्तानगंज से जल लेकर वैद्यनाथ धाम की यात्रा। दूरी 110 किलोमीटर। आधा रास्ता पथरीला, कंकड़ीला, पहाड़ी, चढ़ाव-उतार, जलेबिया मोड़। पैर में पड़ जाते हैं छाले। शरीर का पोर-पोर दुखने लगता है। परन्तु पथ में शिव-दर्शन का उत्साह है। भजन चल रहा है। श्रम-परिहार और शक्ति-संचय साथ-साथ हो रहा है।

बाबा वैजनाथ हम आयल छी भिखरिया अहाँ के दुआरिया ना ।
अयलैं बड़-बड़ आस लगाय, होइयहो हमरा पर सहाय ।
एक बेरी फेरी दियौ गरीब पर नजरिया, अहाँ के दुआरिया...॥¹⁵

उनकी कृपा के लिए उतनी दूर से गंगा जल लाया गया है। फूल, वेलपत्र, चन्दन आदि चढ़ाने की कामना है।

हम गंगाजल भरि-भरि लायब बाबा बैजू के चढ़ायब ।
बैलपत्र चन्दन चढ़ायब फूल कंसरिया । अहाँ के ...॥¹⁶

ऐसे गीत जगन्नाथपुरी, वैद्यनाथ धाम एवं वासुकीनाथ की यात्रा के समय सुनाई पड़ते हैं। जगरनथुवा गीतों में जगरनाथ धाम की यात्रा से जुड़ा प्रसंग है—“जगरनथिया जोड़ी हो भाय दानी के सुरतिया मन में राखियें”।¹⁷

वैद्यनाथाधाम के भूत्पूर्व सरदार पंडा स्व. भवप्रीतानन्द के गीतों एवं झूमरों का संग्रह एवं कमरथुआ, जगरनथुआ गीत अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उनके गीतों में भक्ति, वियोग, शृंगार, हास्य, विनय एवं प्रकृति-प्रेम की भावनाएँ प्रमुख रूप से दिखाई पड़ती हैं। वहाँ एक ही राग है झूमर। किसी पूजा, उपासना में सिद्धिदाता गणेश की वन्दना की जाती है। उनकी गणेश-वन्दना में उनके रूप विन्यास का अनुपम वित्रण है :

लाली लाली सुन्दर मुरतिया हे जयदेव गणपतिया ।
जयदेव गणपतिया जयदेव गणपतिया ।

फिर उनके चूहे, एकदन्त होने तथा सूँड़ रखने का वर्णन। लाल-लाल धोती पहनने का वर्णन।

अंग शोभे लाल लाली धोतिया हे, जयदेव गणपतिया ।

फिर अपने लिए तथा जग के लिए उनसे विपत्ति नाश की प्रार्थना :

चिन्तन-सृजन, वर्ष-12, अंक-4

भवप्रीता माँगे वठर दया करउ लम्बोदउर।
दूर करउ सकल विपतिया हे जयदेव गणपतिया ॥

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि तुम सब धर्मों को त्यागकर मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुम्हारे सब पाप-ताप हर लूँगा। इस तरह की साधना कई वर्षों तक करने पर फल मिलता है। पर अंग प्रदेश के लोग इतना तो करते हैं कि अपने सारे रीति, रिवाज, विवाह, जन्म, मुंडन भगवान के हाथ सौंप देते हैं। जन्म होता है तो पुत्र का नहीं कृष्ण का, राम का, विवाह में परिछन होता है शिव का।

वसहा चढ़ल सिब आयल पाहुन दुअरहिं भै गेल ठाढ़ हे।
परिछन चलली माय मनायनी, नाग छोड़ल फुफकार हे ।¹⁸

कृष्ण ने गीता में कहा है—“ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यम्” जो मुझे जिस रूप में मानता है, मैं उसको उसी रूप में मानता हूँ। कंस को शत्रु रूप और सुदामा को मित्र रूप में भजते हैं और दोनों का उद्धार करते हैं। विश्वास के अनुसार मिलता है फल। निस्सन्तान दम्पति को आस्था है हरिवंशपुराण और गंगास्नान के फल पर कि उसके घर नारायण का जन्म होगा।

गंगाहि पैसी नहायब हिरवंस सुनब रे।
ललना जनमल रूप नारायण बने मन पूरत रे ।¹⁹

श्रम परिहार के गीतों में भी भक्ति की चेतना मिलती है। सूर्य ही जागरण लाते हैं और विश्वाम का संकेत देते हैं स्वयं झूबकर। रोपनी के गीत में सूरज देवता का गीत स्त्रियाँ गाती हैं।

कौउन देलकै हे गोंसाय बान्ही बन्हसरबा। कौउन देलकै हे छोड़ाय,
गिरहथ देलकै हे गोंसाय बान्ही बन्हसरबा। सूरज देलकै हे छोड़ाय ।²⁰

एक ओर प्रकृति से (सूर्य) से सीधा सम्बन्ध और दूसरी ओर उसकी आराधना, उपासना कि कर्ममयता बनी रहे। कर्म होगा, तो फल मिलेगा ही।

गोपीचन्द के गीतों में संसार की असारता, निर्गुण ब्रह्म की महानता का स्वर है। धर्म अपने स्वभाव के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। आग का धर्म दाहकता, धरती का गुण धारण करना, जल का बहाना, भिंगोना। उसी प्रकार मनुष्य का धर्म मनन करना, विवेकपूर्ण निर्णय करना, विनय, परोपकार, परदुःखकातरता है। अंगिका के लोकगीतों में बहुदेवोपासना की प्रवृत्ति है। देवी-देवता की पूजा होती है, तो विष्णु और कृष्ण की आराधना भी। लोक संग्रह, लोक मंगल आत्मोत्थान के साथ लोकोत्थान यहाँ के गीतों में अनुस्यूत है, जो धर्म की मूल चेतना है।

अंगिका के लोकगीत धर्म, संस्कृति की अपूर्व धरोहर अपने में छिपाए हुए हैं। पर्व, त्योहार, धार्मिक अनुष्ठान, शादी-विवाह, जन्मोत्सव आदि इसमें पर्याप्त अवकाश

पा सके हैं, जिससे अंगिका समाज के धार्मिक-सांस्कृतिक स्वरूप पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है।

सन्दर्भ संकेत

1. ब्रह्मांड पुराण 3/74/24-103
2. वायु पुराण 19/24-119
3. विहार एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन, पृष्ठ 30
4. मत्स्य पुराण 48/25
5. कथासरित्सागर 25/35, 26/115, 82/3-16
6. अंगिका-संस्कारगीत, सम्पादक पं. वैद्यनाथ पांडेय और श्री राधा वल्लभ शर्मा, प्रथम संस्करण 1969, पृष्ठ 13
7. The Hindi spoken in the better cultivated parts of the District differs no more from that of Mithila than in usual in different parts of Purniya, and the pronunciation in nearly the same.
An Account of the District of Bhagalpur, F. Buchanan, P. 199.
8. अंगिका संस्कार गीत, पृ. 82
9. उपरिवत्, पृ. 72
10. उपरिवत्, पृ. 76
11. उपरिवत्, पृ. 77
12. उपरिवत्, पृ. 56
13. उपरिवत्, पृ. 186
14. उपरिवत्, पृ. 187
15. अंगिका लोकगीत : मूल्यांकन एवं परिव्याप्ति, डॉ. गायत्री देवी, पृ. 76
16. उपरिवत्, पृ. 123
17. उपरिवत्, पृ. 122
18. अंगिका संस्कार गीत, पृ. 259
19. अंगिका लोकगीत : मूल्यांकन एवं परिव्याप्ति, पृ. 168
20. उपरिवत्, पृ. 130।

इतिहास : आलोचना और कारण

कस्तूरी चक्रवर्ती*

आधुनिक काल में साहित्यानुशीलन के क्षेत्र में रूपवादी चिन्तन के प्रभुत्व का प्रभाव साहित्य सिद्धान्त, आलोचना और इतिहास तीनों पर पड़ा है। रूपवादी चिन्तन के कारण इन तीनों का स्वरूप ही नहीं बदला है, इनके महत्व एवं सार्थकता में भी परिवर्तन हुआ है। रूपवादी चिन्तन के कारण साहित्यानुशीलन के केन्द्र में आलोचना आ गई और उसके समर्थन के लिए साहित्य-सिद्धान्त बनाये गये। इतिहास की उपेक्षा हुई और उसे अनावश्यक मान लिया गया।

रूपवादी आलोचकों ने रचनाकार और पाठक की आस्था को भी साहित्यानुशीलन से बहिष्कृत करने का प्रयत्न किया। शायद रचना में आस्था के अस्तित्व की सार्थकता स्वीकार करने पर रचना की ऐतिहासिकता को स्वीकार करना असम्भव होता है।

रूपवादी साहित्य चिन्तन के फलस्वरूप साहित्यानुशीलन में इतिहास की सार्थकता सन्दिध हो गई और आलोचकों को साहित्य की सामूहिक विकासशीलता की खोज के प्रयत्नों की विफलता का बोध होने लगा। ऐसी दशा में इतिहास से आलोचकों की आस्था उठने लगी। कुछ रूपवादी आलोचकों ने कहा कि सौन्दर्यानुभूति का सम्बन्ध मुख्यतः रूप से होता है, इसलिए साहित्य रूपों, विधाओं, तकनीकों एवं शैलियों का ही इतिहास हो सकता है। रूपवादी चिन्तन के प्रभाव में जीने वाले कुछ आलोचकों ने ‘साहित्यिकता का इतिहास’ बनाने का प्रयत्न किया और साहित्य के इतिहास को एक कालविशेष के लेखन की रीति का इतिहास मान लिया। ऐसे ही कुछ आलोचक साहित्य के इतिहास को शब्दों का इतिहास बनाना चाहते हैं। इसी दौर में रूपवादी व मार्क्सवादी साहित्यचिन्तन की कमजोरियों से मुक्ति का दावा करते हुए हांस राबर्ट यौस जैसे विचारक रचना के ग्रहण और प्रभाव के सौन्दर्यशास्त्र के सहारे नया साहित्येतिहास विकसित करने की कोशिश कर रहे हैं। रूपवादी साहित्य चिन्तन के प्रभाव के बावजूद साहित्यानुशीलन में इतिहास की सार्थकता पर अब नए ढंग से

*सहकारी अध्यापिका और हिन्दी विभागाध्यक्ष, कोकराझार गवर्नमेंट कॉलेज, कोकराझार, असम

विचार होने लगा है। साहित्य के इतिहास के नए स्वरूप और आलोचना से इतिहास के सम्बन्ध पर जो नया चिन्तन हो रहा है। उससे यह लगता है कि रूपवादी साहित्यचिन्तन के प्रभाव का जादू अब टूट रहा है। इतिहास में आस्था एक प्रकार से जीवन व साहित्य की परस्पर सम्बद्धता में आस्था है। यह साहित्य की विकासशीलता में भी आस्था है। इतिहास में आस्था मनुष्य की रचनाशक्ति में भी आस्था का घोतक है। आलोचना रचनाशक्ति को दिशा देती है। और इतिहास-बोध अपनी रचनाशक्ति की प्रगति की निरन्तरता में मनुष्य की आस्था जगाता है। इस आस्था को जगाना और मजबूत करना ही इतिहास एवं आलोचना के सम्बन्ध पर विचार करने का मुख्य प्रयोजन है।

आलोचना के मुख्यतः दो प्रयोजन होते हैं—व्याख्या और मूल्यांकन। व्याख्या और मूल्यांकन के लिए ही आलोचक विश्लेषण और तुलना का सहारा लेता है। रचना में रूपायित रचनाकार के जीवनानुभव और उस अनुभव को व्यक्त करने वाले माध्यम का विश्लेषण करते हुए आलोचक रचना की व्याख्या करता है। व्याख्या के अतिरिक्त कुछ आलोचक मूल्यांकन को ही आलोचना का मुख्य प्रयोजन समझते हैं। लेकिन आलोचना के प्रतिमान रचना की परम्परा एवं रचना के परिवेश से ही प्राप्त होते हैं, केवल रचना से नहीं।

आलोचना के सन्दर्भ में इतिहास की सार्थकता देखने के बाद साहित्येतिहास के सन्दर्भ में आलोचना की सार्थकता पर भी विचार करना जरूरी है। इतिहास लेखन प्रक्रिया चयन, व्याख्या और पुनर्निर्माण के सहारे चलती है। यह प्रक्रिया इतिहासकार की अपनी इतिहास दृष्टि से अनुशासित होती है। इतिहासकार पहले रचना और रचनाकारों का चयन करता है, फिर वह रचनात्मक प्रवृत्तियों, साहित्यिक दृष्टिकोणों एवं रचना सम्बन्धी रीतियों के परिवर्तनों की व्याख्या करता है। इस प्रक्रिया से गुजरकर इतिहासकार साहित्य के सामूहिक विकास का इतिहास निर्मित करता है। इतिहास लेखन में आलोचनात्मक विवेक की ज़रूरत वर्धी से शुरू हो जाती है जहाँ से इतिहास-लेखन का कार्य शुरू होता है। साहित्य का इतिहास असल में साहित्यिक कृतियों में निहित या व्यक्त मूल्यों की उपेक्षा नहीं हो सकती।

कुछ आलोचक यह समझते हैं कि आलोचना आत्मप्रक होती है और इतिहास वस्तुप्रक होता है, इसलिए दोनों में अनिवार्यतः विरोध होता है। ऐसे आलोचक आलोचना को आलोचक की आत्मप्रक ईमानदारी या कलात्मक संवेदनशीलता की ईमानदारी से सम्बद्ध मानते हैं और इतिहास को वस्तुप्रक तथ्यनिष्ठता से सम्बद्ध समझते हैं। उनके अनुसार इतिहास का सम्बन्ध ऐतिहासिक तथ्य से होता है, जबकि आलोचना में ‘काव्यसत्य’ की चिन्ता अधिक होती है।

इतिहास एवं आलोचना के अलगाव का एक कारण यह प्रतीत होता है कि प्रायः आलोचना में कृति की अस्मिता की खोज होती है और इतिहास में कृति के

अस्तित्व की। आलोचना में कृति की निजता, मौलिकता और विशिष्टता की व्याख्या करते हुए उसके सौन्दर्यबोधी मूल्य एवं महत्त्व की मीमांसा पर अधिक बल दिया जाता है। आलोचना में रचना की विशिष्टता की पहचान का जितना प्रयत्न होता है उतना सामान्यता की खोज का प्रयत्न नहीं होता। आलोचना के अनुसार रचना की अस्मिता की क्षमता ही उसके अस्तित्व के स्वरूप का निर्धारण करती है। दूसरी ओर, इतिहासकार प्रायः रचना के अस्तित्व की खोज करते हैं और वे यह भी मानते हैं कि रचना की अस्मिता रचना के परिवेशगत अस्तित्व से निर्धारित होती है। रचना की अस्मिता अपने अस्तित्व की सीमाओं से परे भी कायम रहती है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वह अपने परिवेशगत अस्तित्व से पूर्णतः स्वतन्त्र होती है।

इतिहास में रचना के अस्तित्व को अधिक महत्त्व देने के कारण ही रचना के उत्पत्तिमूलक पक्षों के विवेचन पर अधिक ध्यान दिया जाता है, जबकि आलोचना में रचना के आस्वादप्रक या प्रभावप्रक पक्षों का ही अधिक विश्लेषण होता है।

आलोचना एवं इतिहास के अलगाव पर जोर देने वाले और इतिहास को आवश्यक मानने वाले आलोचक कहते हैं कि रचना के अनुभव तथा आस्वादन में इतिहास से कोई मदद नहीं मिलती और इतिहास उस अनुभव और आस्वादन का विवेचन भी नहीं होता। यह काम केवल आलोचना का है। उनका कहना है कि इतिहास विश्लेषणात्मक होता है, जबकि रचना का अनुभव और उसकी आलोचना का स्वरूप मुख्यतः संश्लेषणात्मक होता है; इसलिए इतिहास और आलोचना का विरोध अनिवार्य है।

इतिहास-लेखन सामान्य किया नहीं है। इतिहास लिखने की ओर कोई जाति तभी प्रवृत्त होती है, जब उसका ध्यान अपने इतिहास के निर्माण की ओर जाता है। यह बात साहित्य के बारे में उतना ही सच है, जितना जीवन के।

इसलिए इतिहास के सम्पर्क एवं वैज्ञानिक अध्ययन के लिए ऐतिहासिक कार्यकलाप तथा विकास में निहित कार्य-कारण में सम्बन्ध का अध्ययन हो जाता है। वस्तुतः “इतिहास का अध्ययन कारणों का अध्ययन है”। बिना कारण से संसार में कुछ भी घटित नहीं होता। जब भी कोई घटना घटित होती है तो उसके पीछे कोई-न-कोई एक निश्चित कारण ज़रूर रहता है। उस कारण को समझे बिना घटना अथवा कार्य की व्याख्या नहीं हो सकती।

कारण एक ऐसा तत्त्व है जिससे अन्य तत्त्व अथवा कार्य की उत्पत्ति होती है। अतः कार्य-कारण के अन्तःकरण को जानना इतिहास की गत्यात्मकता को जानने के लिए ज़रूरी शर्त है।

इतिहास बहुआयामी है। इतिहास के किसी पक्ष अथवा घटना पर विचार करते हुए इतिहासकार कई कारणों का अनुसन्धान कर लेता है। उसके पास अनेक आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक आदि कारणों की सूची तैयार हो जाती है, परन्तु

समीकरण कार्य को समान रूप से प्रभावित नहीं करते। अतः उसका प्राथमिक कारण अथवा ‘कारणों का कारण’ निश्चित करना पड़ता है। इस मूल कारण पर इतिहासकार की इतिहास-सम्बन्धी व्याख्या आधारित होती है। एक प्रमुख कारण ही घटना का नियामक है और उसकी दिशा निर्धारित करता है। अतः इतिहासकार के लिए ‘निर्णायक कारण’ की खोज करना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि यही चर्चित कार्य पर निर्णायक प्रभाव को सम्भव बनाता है। जब तक एक निश्चित और निर्णायक कारण नहीं होगा तब तक उस घटना का पता नहीं चलेगा कि घटना कैसे घटित हुई। उसके पीछे क्या कारण हैं? इसलिए किसी भी घटना का एक निर्णायक कारण होना आवश्यक है।

उदाहरण के तौर पर सीता का हरण रावण के द्वारा नहीं होता तो राम के हाथों उसकी मृत्यु नहीं होती। यहाँ कारण है सीता का रावण के द्वारा अपहरण। इसलिए किसी भी घटना के पीछे एक निश्चित कारण का होना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि प्रमुख कारण ही ऐतिहासिक विवरण को एक सूत्र में आबद्ध करता है तथा उसका प्रभाव देश, काल एवं समाज पर पड़ता है।

इतिहास का उद्देश्य केवल तथ्यों के अनुसन्धान तक ही सीमित नहीं है। उसके मूल में निहित कारणों का ज्ञान प्राप्त करने उनको व्याख्यायित करना भी है। इतिहासकार तथ्यों को अभिनिश्चित करने के उपरान्त उनके कारणों के अनुसन्धान की आगली प्रक्रिया प्रारम्भ करता है। जब वह जान लेता है कि क्या हुआ? तब यह भी जानता है कि ऐसा क्यों हुआ? वस्तुतः तथ्यों का अभिनिश्चय तथा उनकी व्याख्या कारणों पर ही निर्भर है। इन्हीं कारणों को आधार बनाकर इतिहासकार एक-एक घटना का विस्तारपूर्वक वर्णन करता है।

किन्तु क्या कारण की खोज ही ऐतिहासिक अध्ययन के लिए पर्याप्त है?

आ. नलिन जी की दृष्टि में साहित्यिक इतिहासकार के पास पर्याप्त रूप से अन्याक्षिकी रहनी चाहिए तभी वह इन विभिन्न कारणभूत तत्त्वों का, विचारणीय प्रत्येक प्रवृत्ति और लेखकों के प्रसंग में उपयोग कर सकता है और कभी एक प्रकार के कारण और कभी दूसरे पर बल दे सकता है, पर यह भूले बिना कि सरलतम सांस्कृतिक तथ्यों में भी कारणत्व की जटिलता वर्तमान रहती है। यदि साहित्यिक इतिहासकार कल्पना के उस जीवन की विविधता के प्रति अन्याय करने से बचना चाहता है जिससे साहित्य का उद्भव होता है, तो उदाहरण के लिए निर्देश किया जा सकता है, उसे प्रेम एवं ज्ञान, श्रेष्ठ एवं रूमानी आदि परस्पर व्यावर्तक व्यावान-युग्मों के बीच कठोर विरोध मानकर साहित्यिक प्रवृत्तियों को, इन युग्मों के बीच सरल परिवृत्ति के रूप में निरूपित करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए।

श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति और भक्त

प्रदीप जुगरान

वेद-शास्त्र, महात्मा, गुरुजनों तथा परमेश्वर के वचनों में प्रत्यक्ष रूप से विश्वास करना ही श्रद्धा है। ‘श्रद्धा’ भक्ति का पूरक है। एक विश्वास के साथ अपने ज्येष्ठजनों, गुरुजनों तथा श्रेष्ठ मूल्यों को ग्रहण कर ही मनुष्य को आदर्श स्थिति प्राप्त होती है। श्रीमद्भगवद्गीता न केवल भारतीय अपितु वैशिक पटल पर एक ऐसा आदर्श ग्रन्थ है जो जीवन की प्रत्येक अवस्था तथा जीवन के अनुत्तरित प्रश्नों का व्यावहारिक आदर्श रूप स्थापित करता है। गीता न केवल भारतीय मनीषियों अपितु पाश्चात्य विचारकों के लिए भी एक मूल ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित है। भक्ति, ज्ञान, कर्म, सन्न्यास आदि का ऐसा व्यावहारिक विवेचन अन्य किसी ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होता। सभी शास्त्रों की कुंजी रूप में गीता प्रसिद्ध है। कृष्ण-अर्जुन संवाद के रूप में राजनीति, समाज, व्यक्ति के करणीय-अकरणीय कर्मों की व्याख्या श्रेष्ठतापूर्वक प्रदर्शित है।

श्रीमद्भगवद्गीता को विश्व की अनेक भाषाओं में अनूदित किया गया है। विचारकों द्वारा सामाजिक हित के लिए विश्लेषणपरक व्याख्या ने आदर्श जीवन को कला के रूप में प्रतिष्ठित किया है। महात्मा गाँधी, स्वामी विवेकानन्द आदि श्रेष्ठजनों ने इसे अपने जीवन का मूलाधार माना है। भगवद्गीता के विषय में श्रीवेदव्यास जी ने कहा है कि अन्य शास्त्र ज्ञान से श्रेष्ठ गीता है :-

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥¹

श्रीकृष्ण स्वयं अर्जुन से कहते हैं कि ‘कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति’² मेरा भक्त नष्ट नहीं होता। इस ग्रन्थ में भक्ति-भक्त के सम्बन्ध में व्यावहारिक विवेचन दिया गया है जिससे अकर्तव्यता का भाव स्वयं ही लुप्त हो जाता है। सम्पूर्ण देवत्व का समाहार तथा मूल एक परममूर्ति श्रीहरि को माना गया है। गीता

* प्रदीप जुगरान, हिन्दी विभाग, हेमवती नन्दन बहुगुणा गढ़वाल (केन्द्रीय) विश्वविद्यालय, श्रीनगर, उत्तराखण्ड-246174; मो. 9456580462.

में आया है कि चाहे किसी भी देवता का पूजन करो उसको फलीभूत श्रीहरि ही करते हैं। सभी कर्म स्वाभाविक रूप से उन्हीं को समर्पित रहते हैं।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥³

वर्तमान परिपेक्ष्य में भी देखा गया है कि किसी भी पत्थर, वृक्ष अथवा जड़-चेतन को लोग पूजना शुरू करते हैं और उसका फल भी प्राप्त करते हैं। वस्तुतः महत्व उस वृक्ष, पत्थर अथवा जड़-चेतन का नहीं वरन् मनुष्य के आन्तरिक विश्वास का है जो फलीभूत होता है। जैसा कहा भी गया है ‘विश्वास हि फलदायकम्’। ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी आस्था या विश्वास की महिमा कार्य सिद्धि में फलदायक मानी गयी है।

तीर्थं कान्तेभीष्टदेवे गुरौ मन्त्रे यथौषधे ।
आस्था च यादृशो येषां सिद्धिस्तेषां चतादृशो ॥⁴

भगवद्गीता में भक्ति सम्बन्धी श्रेष्ठ विवेचन दिया गया है। सगुण-निर्गुण का श्रेष्ठ समाधान इसमें प्राप्त होता है। वह परमशक्ति सगुण साकार है और वही निर्गुण निराकार है। इसके अनुसार दोनों प्रकार के भक्त ही श्रीहरि को प्रिय हैं लेकिन भक्त होना आवश्यक है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेशं नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥⁵
ये पञ्चदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
ते पि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥⁶

भक्त वह होता है जो सभी जनों से निर्वैर रहे, आसक्तिरहित रहे :-

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सद्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेशु यः स मामेति पाण्डव ॥⁷

अतः जो भी करें परम भक्ति को समर्पित करें। भाव ऐसा हो कि मैं तो कुछ नहीं कर रहा हूँ जो कुछ हो रहा है श्रीहरि ही करवा रहे हैं। कर्मण्य-अकर्मण्य जो भी है सब उनका है तथा उनको ही समर्पित है। कृष्ण कहते हैं कि जो भक्त जिस प्रकार भजते हैं मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मनुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥⁸

उस परमात्मा को पिता मानो या माता, भ्राता मानो या सखा, प्रेमी मानो या गुरु वह तत्सम्बन्धी भाव में साथ रहता है। स्वार्थ को त्यागकर, परमेश्वर को ही अपना

चिन्तन-सृजन, वर्ष-12, अंक-4

आश्रय और परमगति समझकर, निष्काम प्रेमभाव से—मन, वाणी और अपने कर्मों के द्वारा श्रेष्ठ कार्यों को सम्पादित करना एक भक्त का लक्षण है। परहित, प्रेम, दया, दान का समत्व भक्ति का केन्द्रीय भाव है। कृष्ण स्वयं कहते हैं कि न कोई मेरा अप्रिय है न प्रिय, सभी मेरे लिए समान हैं। उसकी आस्था व आन्तरिक भाव उसे तत्सम्बन्धी फल देते हैं। नवधा भक्ति तो इसके बाहरी तत्त्व हैं जो भक्ति धारा को विस्तार देते हैं, लेकिन उससे पहले आदर्श भक्त बनना आवश्यक है। नवधा भक्ति में निम्न नौ प्रकार की भक्ति सम्मिलित है :-

श्वरणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥⁹

कृष्ण स्वयं कहते हैं कि जो कोई भक्त प्रेम से जो कुछ समर्पित करता है उसे मैं सगुण रूप से प्रकट होकर ग्रहण करता हूँ।

पत्रं पुष्टं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहतमज्ञामि प्रयतात्मनः ॥¹⁰

भक्त सम्बन्धी विवेचन में वे कहते हैं कि जिसका जैसा विश्वास है उसके लिए मैं वैसा ही प्रस्तुत होता हूँ। जो शान्तचित्त भक्त हर्ष-वैमनस्य से रहित, सभी जीवों में शान्तचित्त हों वे मुझे प्रिय हैं। भक्त कौन प्रिय है तत्सम्बन्ध में निम्न कहा गया है :-

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममा निरहकार समदुःखसुखः क्षमी ॥
सन्तुष्ट सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मर्यापित्तमनोबुद्धिर्यो उद्भक्तः स मे प्रियः ॥¹¹

वस्तुतः अद्वेषी, स्वार्थहीन, प्रेमी, दयालु, अहंकाररहित, समत्वभाव, क्षमाशील, सन्तुष्ट, मन-इन्द्रियों सहित शरीर को वश में किये हुए तथा दृढ़ निश्चयी; इस प्रकार के भक्त श्रेष्ठ होते हैं। आकांक्षा से हीन, शोक, द्वेष-कामना रहित, शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति सभी में समत्व को प्राप्त सन्तुष्टि, पक्षपातरहित भक्त ही श्रेष्ठ हैं। और श्रीहरि स्वयं कहते हैं कि जो भक्त निष्काम भाव से मेरा चिन्तन-मनन करते हैं वे श्रेष्ठता को प्राप्त होते हैं।

अतः भक्त को चाहिए कि आसक्तिरहित होकर कर्मशील रहें। कर्म परमात्मा को समर्पित कर भक्त निर्पाप होकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

ब्रह्मण्याधाय कमणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाभ्सा ॥¹²

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी ज्ञान गंगा में व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा वैश्विक प्रत्येक समस्या का समाधान प्रस्तुत है। आवश्यकता है तत्सम्बन्धी विचारों पर

चिन्तन-मनन करने की ओर उससे भी बड़ी आवश्यकता है जनमानस के बीच इसकी बौद्धिकता प्रचारित करने की। ज्ञान, भक्ति, कर्म का उत्कृष्ट समाहार इसकी श्रेष्ठता को प्रदर्शित करते हैं। भक्ति और भक्त का परिरूप मनुष्य के विश्वास को दृढ़ करने में समर्थ है जिसका अभिप्राय कर्मकाण्डक आस्था मात्र नहीं है। वस्तुतः भक्ति तो एक विश्वास का नाम है जो सगुण-निर्गुण, बौद्धिक-आध्यात्मिक सभी रूपों में विद्यमान है।

सन्दर्भ

1. महाभारत 6/43/1
2. भगवद्गीता - 9/31
3. वही - 7/21
4. ब्रह्मवैर्त पुराण - 39/126
5. भगवद्गीता - 9/22
6. वही - 9/23
7. वही - 11/55
8. वही - 4/11
9. श्रीमद्भगवद्महापुराण - 7/5/23
10. भगवद्गीता - 9/26
11. वही - 12/13,14
12. वही - 5/10 ।

अरावली के मुक्त शिखर

श्रीरंजन सूरिदेव*

डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद उपन्यास-साहित्य के ख्यातनामा हस्ताक्षर हैं। अवश्य ही इनके कथा-सर्जन से उपन्यास-साहित्य ने ततोऽधिक समृद्धि उपलब्ध की है। इनकी उपन्यास लेखन-शैली प्रायः ऐतिहासिक शैली की होती है, क्योंकि इन्होंने अपने यथाप्रस्तुत उपन्यास ‘अरावली के मुक्त शिखर’ में प्रसिद्ध इतिहास-पुरुष महाराणा प्रताप और सम्राट् अकबर की जीवन-कथा की सत्यता को काल्पनिक आयामों के वैविध्य और वैचित्र्य के साथ उपन्यस्त किया है।

डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद ने अपने इस उपन्यास में स्वीकृत पात्रों के कार्यों, व्यापारों और चारित्रिक वैशिष्ट्य-मूलक मनोभावों को कथा-पाठक के सम्मुख प्रस्तुत किया है। इनका यह प्रस्तुतीकरण जितना सरल-स्वाभाविक है, उतना ही अन्तर्मन को स्पर्श करने वाला भी है। कथा के संस्कृत-आलोचकों का मन्तव्य है कि वही कथा उत्तम या श्रेष्ठ होती है, जो स्वयं अनुरागपूर्वक शब्दों पर आई हुई नई वधू की तरह पाठकों के हृदय में समाप्ति हो जाती है : ‘रसेन शब्दां स्वयमभ्युपागता कथा जनस्यामिनवा वधूरिव।’ डॉ. शत्रुघ्न की यथाप्रस्तुत औपन्यासिक कथा में यही दुर्लभ विशेषता आदि से अन्त तक दृष्टिगत होती है।

यथाप्रस्तुत उपन्यास की कथावस्तु स्वभावतः अतिशय सरल और सहदयजन-संवेद्य है। प्रसिद्ध इतिहास पुरुष की यह जीवन-कथा इसलिए हृदयावर्जक है कि इसमें महाराणा प्रताप के स्वातन्त्र्य-संघर्ष को नई एवं प्रामाणिक शोध-दृष्टि से उसकी विश्वसनीयता के साथ परिवेशित किया गया है। पात्रों की भाषा-शैली और भाव-भंगिमा को युगानुकूल परिवेश में उपस्थापित किया गया है, जो सहजता और सरलता जैसे गुणों से सम्पन्न है। ऐतिहासिक यथार्थता एवं राष्ट्रीय ओजस्विता और अपने नायक

डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, 37, एस.बी.आर्ड. आफिसर, कॉलोनी, काली मन्दिर मार्ग, हनुमान नगर, ककड़वाग, पटना-8000020 (बिहार)

के प्रति समर्पित व्यक्तित्व की विशालता से युक्त चरित्रों का बहुत प्रभावकारी अंकन इस उपन्यास की निजी विशेषता है।

मुगलिया सल्तनत के राजधाने का आचार-व्यवहार के वर्णन में कथाकार की वर्णन-शैली भी आशंसनीय ही नहीं, प्रशंसनीय भी है। इसलिए, कथा में इतनी रोचकता है कि पाठकों की ऊहात्मक जिज्ञासा निरन्तर बनी रहती है। यहाँ तक कि उपन्यास के कथाशेष में भी अशेषता की जिज्ञासा या औत्सुक्य का भाव उद्ग्रीव ही रहता है। अवश्य ही, कथा-पाठक की यह मनःस्थिति, उपन्यासकार की लेखन-सफलता का घोतक है।

इस उपन्यास के यथावर्णित पात्र महाराणा प्रताप, जोधाबाई, संगीत पुरुष तानसेन, गोपीनाथ पुरोहित, चक्रपाणि मिश्र, कवि होकर भी सेनानी की भूमिका के निर्वाहिक रहीम, जो प्राचीन हिन्दी साहित्य में दोहाकार के रूप में जाने जाते हैं, आदि सभी पात्रों का चरित्र इतना मर्मस्पर्शी है कि वे पाठकों के हृदय में सहज ही बस जाते हैं।

यथा-प्रसंग उपन्यासकार द्वारा चित्रित प्रकृति-चित्रण कथाकार की रससिक्त दृष्टि का समुद्रभाव है। ऐतिहासिक उपन्यास के लिए तो इतिहास की रक्षा करने के साथ-साथ उसके स्वरूप को अपनी कल्पना के द्वारा स्पष्ट करना भी आवश्यक होता है। ध्यातव्य है कि उपन्यास इतिहास का अन्धानुकरण नहीं हो सकता। साहित्यिक कथावस्तु ही उपन्यास के लिए महत्त्वपूर्ण है। साथ ही, ऐतिहासिक मर्यादा की रक्षा भी अनिवार्य है। डॉ. शत्रुघ्न ने अपने इस उपन्यास में यही किया है।

चरित्र-चित्रण की कुशलता इस उपन्यास में सर्वत्र दृष्टिगत होती है। कुल मिलाकर डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद ने अपने पात्रों को देश और सीमा के अनुकूल रखते हुए भी सार्वजनिक एवं सार्वकालिक बनाने का अद्भुत प्रयास किया है। आशा है, यथाप्रस्तुत यह उपन्यास हिन्दी के उपन्यास साहित्य की समृद्धि में क्रोशशिलात्मक भूमिका का निर्वहण करेगा।

भारतीय ज्योतिर्विज्ञान और कालगणना की परम्परा

शत्रुघ्न प्रसाद

डॉ. नलिन बिहारी ने वर्षों के गहन अध्ययन तथा मनन के बाद हिन्दी में पहली बार ‘भारतीय ज्योतिर्विज्ञान और हमारी कालगणना की परम्परा’ नामक वृहत सन्दर्भ ग्रन्थ रचकर भारत के पुरायुगीन गणित, खगोल विज्ञान तथा कालगणना की साधना को सबके समक्ष रख दिया है। इस ग्रन्थ के द्वारा ऋग्वेद काल से लेकर बारहवीं सदी के भास्कराचार्य द्वितीय तक की भारतीय मेधा तथा प्रतिभा का पूर्ण परिचय मिल जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में ज्योतिर्विज्ञान का अन्वेषण, अध्ययन विश्लेषण एवं विवेचन युगों से होता रहा है।

भारतीय ज्योतिर्विज्ञान तथा कालगणना पर पश्चिमी विद्वान तथा आधुनिक भारतीय बुद्धिजीवी प्रश्न करते रहते हैं। फलित ज्योतिष तो सन्देह के घेरे में रहता ही है, क्योंकि व्यवसाय का माध्यम बन गया है। इसमें असहमति की स्थिति आती ही है। परन्तु ज्योतिर्विज्ञान तो खगोल विज्ञान, भूगोल तथा गणित पर आधारित है। कालगणना की आधार भूमि है। डॉ. नलिन बिहारी ने इन्हीं पर अपने विशद विवेचन को प्रस्तुत किया है। इसमें फलित ज्योतिष की चर्चा नहीं है। अतः यह भारतीय विज्ञान के अवदान की व्याख्या है। भाष्य है। यह स्मरण रहे कि पवित्र बाइबल के आधार पर की गई कालगणना को पश्चिम के वैज्ञानिकों ने ही विज्ञान विरुद्ध सिद्ध कर दिया है। अब आधुनिक कालगणना भारतीय कालगणना के निकट आ गई है। यह स्मरण रहे

डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद, बी-13, त्रिभुवन विनायक रेजीडेंसी, सामने श्रीराम अपार्टमेंट, बुद्धा कालोनी, पटना-800001, मो. 09431685504

समीक्षित पुस्तक : ‘भारतीय ज्योतिर्विज्ञान और हमारी कालगणना की परम्परा’, लेखक—डॉ. नलिन बिहारी, संस्करण प्रथम—2014, पृष्ठ 416; मूल्य रु. 850.00, प्रकाशक : जागृति प्रकाशन, द्वितीय मंजिल, मैत्री शान्तिभवन, बी.एम.दास रोड, पटना-800004

कि भारत में प्रत्येक अनुष्ठान के संकल्पमन्त्र में चिरयुगीन कालगणना की वैज्ञानिकता अद्यतन स्थिति में हस्तामलकवत् है।

यह उल्लेखनीय कि डॉ. रवि कुमार आर्य ने भारतीय कालगणना के सम्बन्ध में भारतीय गणित के आधार पर पुस्तक लिखी है। डॉ. वासुदेव पोद्दार ने ‘विश्व की कालयात्रा’ नामक अपने गहन गम्भीर ग्रन्थ में भारतीय तथा पश्चिमी सृष्टि विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए भारतीय ऋषि प्रज्ञा की देन को अपूर्व बताया है। भारत की वैज्ञानिकता को सिद्ध कर दिया है। डॉ. नलिन बिहारी ने अपने ग्रन्थ में भारतीय कालगणना के पूरे रूप के विस्तृत विवेचन के साथ ज्योतिष विज्ञान के विकासक्रम को भी उद्घाटित कर पश्चिम की देन को आज का बताया है जबकि भारत का ज्योतिर्विज्ञान अति प्राचीन है। इससे इस ग्रन्थ का वैशिष्ट्य सामने आ जाता है।

‘भारतीय ज्योतिर्विज्ञान और हमारी कालगणना की परम्परा’ चार सौ सोलह पृष्ठों में लिखित है। यह ग्रन्थ ‘क’, ‘ख’, ‘ग’ नामक तीन खण्डों के कुल चौंतीस बिन्दुओं में प्रतिपादित है। इन्हें हम 34 उपखण्ड की कह सकते हैं। खण्ड ‘क’ में डॉ. नलिन बिहारी ने भारतवर्ष को ज्योतिष का उद्भव स्थान घोषित करते हुए प्रमाण के रूप में वेद की ऋचाओं, निरुक्त, व्याकरण, वाल्मीकि रामायण, भागवतपुराण आदि के सूत्रों तथा श्लोकों को प्रस्तुत कर बताया है कि उनमें ज्योतिष चिन्तन के तत्त्व हैं। इन प्राचीन सूत्रों की चर्चा के बाद प्राचीन ज्योतिषाचार्यों के अठारह सिद्धान्तों का परिचय देते हुए यह ग्रन्थ सप्रमाण बताया है कि सूर्य सिद्धान्त, पराशर सिद्धान्त, आर्यभट्ट (प्रथम) सिद्धान्त, आर्यभट्ट (द्वितीय) सिद्धान्त, वराहमिहिर सिद्धान्त, प्रथम भास्कराचार्य तथा द्वितीय भास्कराचार्य के सिद्धान्त प्रमुख हैं। इन्हीं प्रमुख सिद्धान्तों के आधार पर भारतीय ज्योतिर्विज्ञान निर्मित है।

खण्ड ‘ख’ में लेखक ने कालगणना पर विचार किया है। कालगणना तो मानो कालचिन्तन है। कालमाप है। भारतीय दृष्टि से काल काल पुरुष है जो अनादि और अनन्त है। इस कालगणना को वैज्ञानिक दृष्टि से सिद्ध कर पुराणकार ने संकल्पमन्त्र में ऐसा पिरो दिया है कि वह पंचांग के अनुसार अग्रसर होता रहता है। यहाँ काल का सूक्ष्मतम माप हो गया है। और भारतीय ऋषियों ने काल के महत्म माप के लिए युगों की उद्भावना की है। चारों युगों, चारों युगों का एक महायुग और इकहत्तर महायुगों का एक मन्वन्तर होता है। इस प्रकार डॉ. नलिन ने भारत में सम्पन्न कालगणना के पूरे स्वरूप की व्याख्या करते हुए संकल्प मन्त्र का विवेचन कर और स्पष्ट कर दिया है। साथ ही संकल्प मन्त्र में आये भूर्लक आरि सप्तलोक और जम्बूद्वीप से आर्यावर्त तक का विवेचन कर भारतवर्ष की स्थिति भी बता दी है। भारतीय भूगोल सबके समक्ष आ गया है। इसे समझने के लिए मानचित्र भी है। भारतवर्ष के दक्षिण में स्थित रामसेतु की आयु भी सप्रमाण सिद्ध है। भूगोल के साथ प्राचीनतम इतिहास भी है। यह इस ग्रन्थ की सर्वागपूर्णता है जो अन्यत्र नहीं है।

चिन्तन-सृजन, वर्ष-12, अंक-4

खण्ड ‘ग’ में डॉ. नलिन ने सूर्य सिद्धान्त के अनुसार संवत् सर का विवेचन करते हुए संवत् और मुख्यतः विक्रम संवत् की व्याख्या कर दी है। विक्रम संवत् का इतिहास भी विक्रमादित्य की अवस्थिति को स्पष्ट करते हुए बताया है। जो चैत्र शुक्ल एक से आरम्भ होता है। यही सृष्टि का दिन है। कैसे है? यह भी उद्घाटित है। भारत में प्रचलित विभिन्न संवतों की पूरी चर्चा है और इनमें कितने वर्षों का अन्तर है—व्याख्यायित है। इसी खण्ड ‘ग’ के चौदहवें उपखण्ड में पंचांग का विवेचन आरम्भ हो जाता है। भारतीय पंचांग सौर-चन्द्र क्यों हैं यानी सूर्य और चन्द्र दोनों की आपेक्षित गति के आकलन को स्पष्ट कर दिया गया है। पंचांग के पाँचों अंग—1. तिथि/पक्ष, 2. वार और वार (दिन) का नाम क्रम, मासविचार तथा भारतीय ऋतुचक्र, 3. नक्षत्र और भारतीय नक्षत्र पद्धति, 4. राशि परिचय तथा पाँचवाँ अंग-योग एवं करण, लग्न, अयनांश, गोल, अयन इत्यादि के साथ नवग्रह के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टिकोण भी पूर्णतया विवेचित है। अन्त में भारतीय दृष्टिकोण के कारक तथा प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए डॉ. नलिन बिहारी ने भारत में स्थित वेधशालाओं की जानकारी दे दी है जिससे यह सप्रमाण सिद्ध हो जाय कि भारत में काल निर्धारण की पूरी वैज्ञानिक प्रक्रिया विद्यमान रही है। इसके नौ प्रकार भी अंकित हो गये हैं।

अन्तिम चौंतीसवें उपखण्ड में डॉ. नलिन बिहारी ने पश्चिम की कालगणना के विकास तथा भारतीय दृष्टिकोण का तुलनात्मक अध्ययन किया है। और संकेत कर दिया है कि पश्चिमी कालगणना में व्यावहारिक त्रुटियाँ रही हैं। इसा मसीह के जन्म से कालमापन का औचित्य सर्वथा गलत है। इस महत्वपूर्ण वैज्ञानिक-सांस्कृतिक विवेचन के औचित्य के लिए लेखक ने सारणी अनुक्रमणिका देते हुए चित्रों को प्रस्तुत किया है। इसलिए यह पूरे विस्वास के साथ कहा जा सकता है कि डॉ. नलिन बिहारी का यह ग्रन्थ अपनी प्रामाणिकता, सर्वांगपूर्णता तथा तुलनात्मक दृष्टि के विचार से महत्वपूर्ण है। यह ग्रन्थ अति प्राचीन काल—ऋग्वेद काल से भारत के वैज्ञानिक कालचिन्तन का विश्लेषण-विवेचन करते हुए भारत की ऋषि-प्रज्ञा के अवदान की प्रतिष्ठा कर देता है जिससे भारत के सन्देहवादी तथा विश्व के कालचिन्तकों को समझने का अवसर मिल सके। एतदर्थं मैं इस ग्रन्थ का अभिनन्दन कर रहा हूँ और डॉ. नलिन बिहारी को कोटिशः साधुवाद दे रहा हूँ।

उपन्यास के मूल्यांकन का परिप्रेक्ष्य

लव कुमार*

पूर्णिया की रत्नप्रसू धरती ने अनेक साहित्य-रत्नों को जन्म दिया है और इन साहित्यकारों ने अनेक कालजयी रचनाओं की सृष्टि की है। हिन्दी साहित्यकाश में एक देवीप्यमान नक्षत्र की तरह फणीश्वरनाथ रेणु ने अपनी प्रतिभा एवं प्रक्रम की बदौलत आंचलिक साहित्य को एक ऊँचाई देकर क्षेत्र को गैरवान्वित किया। यहीं उल्लेखनीय है कि किसी ग्रामीण जनपद की भाषा-संस्कृति एवं चरित्र को लेकर रचना-कर्म में जुटना यदि आंचलिक होने के लिए पर्याप्त है तो गाँवों में हो रहे परिवर्तनों को रेखांकित कर, और उस संक्रमण काल में बदलते हुए गाँव की वस्तु-स्थिति का रचनात्मक स्तर पर अंकित करने के कारण रेणु जी इस मामते में काफी आगे दिखाई देते हैं। समाज के अन्दरूनी बदलावों और जीवन के परिवर्तनों तथा हलचलों को वैसी रचनात्मक अभिव्यक्ति सम्भवतः आज तक नहीं दी जा सकी। ग्राम्य जीवन की बारीकियों के सटीक चित्रांकन के कारण ही फणीश्वरनाथ रेणु और उनका महत्वपूर्ण श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यास ‘मैला आँचल’ आज वस्तुतः एक-दूसरे के पर्याय बन चुके हैं। इस उपन्यास ने न केवल हिन्दी उपन्यास के वस्तु और शिल्प की रूढ़ परम्परा को तोड़ा बल्कि आंचलिक उपन्यास के रूप में एक ऐसे मिथ को जन्म दिया जिसकी उपलब्धि को आज तक ऐसा कोई आंचलिक उपन्यास लाँघ नहीं सका है—स्वयं रेणु के ही लिखे बाद के उपन्यास भी प्रयोगशीलता की दृष्टि से इस ऊँचाई को स्पर्श न कर सके। निश्चय ही ‘मैला आँचल’ में परम्परा को तोड़ने के साथ ही नई रचना-परम्परा की शुरुआत करने की साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक ताकत थी वरना निरन्तर बदलते परिवेश में और परिस्थितियों में, साहित्य की बदलती

गढ़बनैती, पूर्णिया, बिहार, पिन 854325, मोबाइल 09430276299

समीक्ष्य कृति : रेणु की कहानियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन, लेखक—डॉ. छोटेलाल बहरदार, राष्ट्रीय प्रकाशन संस्थान, 103 शशि पैलेस, कुलहड़िया कॉम्प्लेक्स के निकट, अशोक राजपथ, पटना 800004 ; मूल्य —110/-, पृ. 80

विचारधाराओं में, पाठकों की युगानुरूप बदलती रुचि और मन-मिजाज के अनियन्त्रित माहौल में युग की हवा के साथ यह उपन्यास भी कब का जड़ सहित उखड़ गया होता। कथावस्तु के इस परिपार्श्व को यदि मूल संवेदना से अलग कर दिया जाय तो उपन्यास में ऐसा कुछ विशेष नहीं बचता जिससे वह अपनी महत्ता और गुणवत्ता साबित कर सके। ‘मैला आँचल’ निश्चय ही अपनी ताकत अंचल विशेष की साहित्य, संस्कृति, समाज और लोक-जीवन से पाता है पर कथावस्तु में ऐसे बहुत-से तथ्य और प्रसंग उभरे हैं जिससे युगीन जीवन की संकल्पना को महसूस किया जा सकता है। यद्यपि ऐसे तथ्य और प्रसंग कथावस्तु में अपेक्षित विस्तार एवं गहराई नहीं पा सके हैं लेकिन युगीन जीवन ने जुड़ने के लिए कथानक में समाज, संस्कृति, अर्थ और राजनीति से जुड़े ऐसे अनेक स्थल सृजित किये गये हैं जिससे जीवन और मानवीय रिश्तों के कई परिपार्श्व उघड़ते चले जाते हैं। छोटेलाल बहरदार की समीक्ष्य कृति ‘रेणु की कथाओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन’ में इन्हीं विचार-बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में ‘मैला आँचल’ के अन्तर्विश्लेषण का प्रयास किया गया है। बेशक अपनी विवेचन-विश्लेषण शक्ति, वस्तु की सूक्ष्म पकड़, उपन्यास की मूल संवेदना को सहजता से उद्घाटित करने की शैली, विभिन्न, विचार-बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में उपन्यास को युगीन जीवन से जोड़ने की उल्टटोता के साथ ही उदात्त भाषा एवं शैली के कारण बहरदार की यह कृति मानसिक संतोष देने वाली और शोधाध्ययन को एक मजबूत वैचारिक आधार प्रदान करने वाली है।

‘रेणु जी के प्रमुख उपन्यासों में वर्णित सामाजिक स्थिति’ को स्पष्ट करने के लिए लेखक ने व्यक्ति और समाज के रूप में सामग्री को दो भागों में बाँट लिया है। व्यक्ति के अन्तर्गत नर-नारी सम्बन्ध, विवाह (वैध्य) और नर-नारी समानता के आलोक में विषय-वस्तु को स्पर्श किया है तो परिवार के सन्दर्भ में संयुक्त परिवार के गुण-दोषों को उपन्यास के सन्दर्भ में निष्पक्ष भाव से अनावृत किया है। समाज के सन्दर्भ में ‘मैला आँचल’ एक उल्लेखनीय स्वरूप उपस्थित करता है क्योंकि इसमें समाज के तत्कालीन तथा बदलते रूप को पूरी सच्चाई के साथ चित्रित किया गया है। उपन्यास में जिस समाज की रूपरेखा उपस्थित है, उसमें जाति-पांति का भेदभाव, छुआछूत, ऊँच-नीच का भेद आदि तो है ही (ऐसी दूरीयाँ और भेदभाव तो आज भी किसी-न-किसी रूप में समाज में व्याप्त है ही), साथ ही आपसी सहयोग, सामूहिक खान-पान और वैचारिक एकता के मिशाल भी है। इतना ही नहीं, रेणु जी ने इस उपन्यास में जिस समाज को दिखाया है उसमें सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन की घटित प्रक्रिया को धोड़ा भिन्न रूप में ही सही पर आज भी महसूस किया जा सकता है।

‘आर्थिक स्थिति’ में लेखक ने आय के स्रोत, आर्थिक संघर्ष, जर्मांदारों का आतंक, वैज्ञानिक आविष्कारों का अर्थ पर प्रभाव, सरकारी आर्थिक नीतियाँ, आर्थिक

स्थिति तथा रहन-सहन में परिवर्तन जैसे बिन्दुओं के प्रकाश में यह स्पष्ट करने की कोशिश की है कि रेणु ने अपने इस उपन्यास में समाज की आर्थिक स्थिति का बड़ा सटीक चित्रण किया है और इस क्षेत्र के लोगों की आर्थिक स्थिति, उनका पेशा, बदलते समय के साथ आर्थिक स्थिति तथा समीकरण में आने वाले परिवर्तनों से प्रभावित होते जनजीवन का मार्मिक व्याख्या की है।

‘राजनीतिक स्थिति’ को स्पष्ट करने के लिए लेखक ने उपन्यास को दो भिन्न कालखंडों में बाँट लिया है जिससे तुलनात्मक रूप से गाँवों की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों का दिग्दर्शन कराया जा सके। यह सर्वादित है कि स्वतन्त्रता-पूर्व की राजनीतिक स्थिति, गाँधी जी एवं उनका विविध आन्दोलन, आन्दोलन में तन-मन-धन से साथ देता हुआ इस अंचल विशेष का विशाल जन-समूह का सम्मिलित सहयोग भी आजादी की लड़ाई में मायने रखने वाली थी। स्वतन्त्रता के पश्चात आजादी का जुलूस इस गाँव में निकाला जाता है, कीर्तन होता है लेकिन इन सबके बीच देश में हो रहे दंगों, हिंसा और गाँधी जी के मारे जाने की खबर भी गाँववासियों को जरूर है। बावनदास का चरित्र अपने-आप में निराला है।

‘सांस्कृतिक स्थिति’ को विश्लेषित करते हुए लेखक ने सांस्कृतिकता को ही प्रमुख विशेषता माना है जो इस उपन्यास को आंचलिकता का मूल स्वरूप प्रदान करता है। दरअसल, रेणु जी ने भी इस अंचल के लोगों की शिक्षा, सोच, विश्वास, अन्धविश्वास, तन्त्र-मंत्र, पर्व-त्यौहार, धारणाएँ, लोकगीत-नृत्य आदि की अभिव्यक्ति को महत्व देते हुए प्रकृति-साहचर्य को भी समेट लिया है और अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण यह उपन्यास इस क्षेत्र का सांस्कृतिक आईना बन सका है।

छठे अध्याय में ‘मैला आँचल’ में वर्णित विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों का मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। उनके मूल्यांकन से जो तथ्य उभरकर सामने आते हैं, उनसे असहमत होने का कोई आधार ही नहीं बनता और विवश होकर उनकी बात माननी पड़ती है कि “रेणु जी यदि ‘मैला आँचल’ के बाद अन्य कोई उपन्यास और ‘तीसरी कसम’ के बाद कोई कहानी न लिखते, तो भी, मेरी दृष्टि से उनके यश में कोई फर्क नहीं पड़ता।” (दो शब्द) बेशक रेणु जी ने ग्राम-संस्कृति को मानवीय संवेदना के व्यापक धरातल पर पहली बार मिट्टी की सोंधी महक के साथ शब्दाकार देने की पहल की थी किन्तु उनकी इस लेखकीय सम्भावना और कहानियों में निहित उनकी ग्रामीण परिवेश की चित्रण-शक्ति को छोटेलाल बहरदार ने जिस कुशलता से संक्षेपितः अन्वेषित-विश्लेषित किया है, वह प्रशंसनीय है।

रेणु की कहानियों में ग्राम्य-जीवन’ नामक अध्याय में रेणु की चर्चित कहानियों की ग्रामीण परिवेशजन्य विशेषताओं का उद्घाटन है। रेणु के रचना-शिल्प की यह खूबी रही है कि उन्होंने वस्तु का चुनाव जिस समाज और परिवेश से किया है, उसे तदनुरूप शिल्प में संयोजित करने का उपक्रम भी किया है। यह इसलिए भी सम्भव

हो सका क्योंकि रेणु जी ग्राम्य जीवन के विविध रूपों से गहराई से परिचित रहे। ग्राम्य जीवन के विविध पहलुओं को स्वाभाविक एवं विश्वसनीय ढंग से उजागर करने का मूल कारण स्वयं उनका इस आंचलिक परिवेश से निरन्तर जुड़ाव भी था। सम्भवतः इसी कारण रेणु जी की चर्चा जब भी होती है तो ‘मैला आँचल’ का डॉक्टर प्रशान्त और ‘तीसरी कसम’ का हीरामन सामने आ जाते हैं।

लेखक का लक्ष्य रेणु कृत ‘मैला आँचल’ उपन्यास का विभिन्न सन्दर्भों में समीक्षामूलक अध्ययन प्रस्तुत करना है। इस दृष्टि से पुस्तक के दूसरे अध्याय का शीर्षक ‘रेणु के प्रमुख उपन्यासों में वर्णित सामाजिक स्थिति’ उनके अध्ययन विषय से अलग हो जाता है। यथार्थतः उपन्यास के विश्लेषण-क्रम में ‘मैला आँचल’ को छोड़कर लेखन ने पुस्तक में किसी दूसरे उपन्यास का जिक्र करने से स्वयं को अलग ही रखा है, प्रसंगवश उनके उपन्यासों के नाम यदा-कदा जरूर आये हैं। फिर भी, रेणु की रचनाओं के विविध आयामों, व्यापक आधारफलक के सारागमित एवं मानवीय मूल्यों तथा उनके बदलते स्वरूपों की अनुभूति करने वाली समीक्ष्य कृति रेणु की रचनाओं को हमारे स्मृति पटल पर उभार देती है और आंचलिक जीवन एवं परिवेश का सीधा-सादा मानवित्र हमारे मन-मस्तिष्क में निर्मित होता जाता है। लेखक का अध्ययन यह स्पष्ट कर देता है कि गाँव और ग्रामीण संस्कृति से रेणु का विशेष लगाव रहा और उनकी रचनाओं के पात्र भी मानवीय सच के निकट ही खड़े महसूस होते हैं। यही विशेषता उन्हें अन्य रचनाकारों से अलग करती है। रेणु जी निस्सन्देह उस परम्परा के रचनाकार साबित होते हैं जिनके लिए रचना-कर्म और समाज में बदलाव के लिए संघर्ष का मुद्दा अलग-अलग नहीं है। ग्रामीण जीवन की बारीकियों के सहारे हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने वाले ‘मैला आँचल’ पर प्रस्तुत इस शोधाध्ययन के लिए डॉ. छोटेलाल बहरदार स्थायी सम्मान के अधिकारी हैं।

पाठकीय प्रतिक्रिया

‘चिन्तन-सृजन’ का जनवरी-मार्च 15 का अंक प्राप्त हुआ। पूर्व के अंकों के समान यह अंक भी चिन्तनशील, सारयुक्त और विचारप्रक है।

- जिया लाल आर्य, आर्य निवास, 23 आई.ए.एस. कालोनी, किंदवईपूरी, पटना-1.

‘चिन्तन-सृजन’ के जनवरी-मार्च अंक में प्रकाशित श्री कमलेश का ‘हमारे नेता इतने अपढ़ क्यों हैं?’ और डॉ. शंकर शरण का ‘हमारे विश्वविद्यालयों की स्थिति’ ये दोनों लेख स्तरानुसार पाठ्यक्रम में होने चाहिए। डॉ. निरुपमा राय का आलेख संग्रहणीय है। इसके अलावा राजी सेठ और प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय के पत्र पढ़े। उपाध्याय जी को पढ़कर कभी-कभी लगता है, वरद हाथ उठाए हुए हमारे ऋषि ऐसे ही होते होंगे। अंक समय पर मिल गया। धन्यवाद।

- केशीकांत

आपने मेरा यात्रानिवंध ‘परमहंस की तपस्थली में’ प्रकाशित कर आनंद-वर्धन किया है तथा ‘चिन्तन-सृजन’ के साहित्यिक स्तर का निर्वहण कर हमलोगों का उत्साह-वर्धन किया है।

- डॉ. भुवनेश्वर गुरुमैता (राष्ट्रीय उपाध्यक्ष) अखिल भारतीय साहित्य परिषद्, विजय निकेतन, 6 ई. राजेन्द्र नगर, पटना-16.

आपके द्वारा संपादित त्रैमासिक पत्रिका चिन्तन-सृजन के आठ अंक मुझे प्राप्त हुए हैं। मैं महाविद्यालय में शिक्षकीय दायित्व के साथ कुछ कवि कर्म में भी दखल रखता हूँ।

- डॉ. लक्ष्मी नारायणबुनकर, प्राध्यापक, हिन्दी कवि एवं गीतकार, शा. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गुना (म.प्र.)

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ:

पुस्तकें:

डॉ. मधुकर गंगाधर की कहानी यात्रा, सम्पादक: डॉ. वरुण कुमार तिवारी; प्रकाशक: मुकुल प्रकाशन, ख्यवंशी निकेतन, सानिध्य श्री आद्या कात्यायनी शक्तिपीठ मन्दिर, छत्तरपुर, महरौली, नई दिल्ली-110074; प्रथम संस्करण: 2015 ई.; पृष्ठ: 192; मूल्य: 300 रुपये।

सुबह होने वाली है, सम्पादक: शिवकुमार दुबे; प्रकाशक: अयन प्रकाशन, 1/20, महरौली, नई दिल्ली-110030; प्रथम संस्करण: 2015 ई.; पृष्ठ: 100; मूल्य: 200 रुपये।

मंथन 5, चिंतन की विविध दिशाएँ, संपादक: रक्षा सिसोदिया; प्रकाशक: श्री कैलाशचन्द्र पन्त, मंगी संचालक, प. रविशंकर शुक्ल हिन्दी भवन न्यास, श्यामला हिल्स, भोपाल- 462002; प्रथम संस्करण: वर्ष 2015; पृष्ठ: 200; मूल्य: 300 रुपये।

गौधी-विमर्श, संपादक: सुधार्शु शेखर; प्रकाशक: दर्शना पब्लिकेशन, सराय, भागलपुर-812002 (बिहार); प्रथम संस्करण: 2015; पृष्ठ: 144; मूल्य: 150 रुपये।

अधूरा ही पूरा है मेरा मर्यादाबोध, संपादक: विवेक सागर मिनोचा; प्रकाशक: सन्मार्ग प्रकाशन, 16-यू.बी. वैंगलो रोड, दिल्ली-110007; प्रथम संस्करण: 2015; पृष्ठ: 240; मूल्य: 450 रुपये।

रहना नहीं देश बिराना है, संपादक: डॉ. लक्ष्मी नारायण बुनकर; प्रकाशक: संजय प्रकाशन, 57-बी, पॉकेट-ए, फेज-II, अशोक विहार, दिल्ली-110052; प्रथम संस्करण: 2015; पृष्ठ: 96; मूल्य: 300 रुपये।

चिन्तन-सृजन का स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

फार्म 4

नियम 8

- | | | |
|------------------|---|---|
| 1. प्रकाशन स्थान | : | दिल्ली |
| 2. प्रकाशन अवधि | : | त्रैमासिक |
| 3. स्वामी | : | आस्था भारती, नई दिल्ली |
| 4. मुद्रक | : | डॉ. लता सिंह
सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?)
पता |
| | : | हाँ, भारतीय
27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096 |
| 5. प्रकाशक | : | डॉ. लता सिंह
सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?)
पता |
| | : | हाँ, भारतीय
27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096 |
| 6. सम्पादक | : | डॉ. वी. बी. कुमार
सम्पादक, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?)
पता |
| | : | हाँ, भारतीय
27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096 |

मैं डॉ. लता सिंह घोषित करती हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी
और विश्वास के अनुसार सही है।

(ह.) डॉ. लता सिंह

जून 18, 2015

प्रकाशक

Dialogue
Quarterly English Journal of Astha Bharati, Delhi since July 1999
Special Numbers:

- Vol. 3:3: Illegal Migration from Bangladesh
Vol. 3:4: Central Asia
Vol. 4:1: Fiscal Mis-management in North East India
Vol. 4:2 Maoist Insurgency in Nepal and India
Vol. 4:3 India: Security Dimensions
Vol. 4:4 Indian Islands: Andaman & Nicobar Islands and Lakshadweep
Vol. 5:1 South-East Asia
Vol. 5:2 Secularism: India in Labyrinth
Vol. 5:3 India's Neighbourhood
Vol. 5:4 Governance in the North-East
Vol. 6:1 Policing in India
Vol. 6:2 India and Central Asia
Vol. 6:3 Population Issues
Vol. 6:4 Naxalism
Vol. 7:1 Indo-Pakistan Relations & Kashmir
Vol. 7:2 Media in India
Vol. 7:3 India's North East
Vol. 7:4 India: Political Culture, Governance & Growth
Vol. 8:1 Understanding India
Vol. 8:2 India's Internal Security
Vol. 8:3 India's Interface with East Asia
Vol. 8:4 Education in India
Vol. 9:1 India's eastern Neighbourhood & 'Look East' Policy
Vol. 9:2 Caste, Community and Social Justice
Vol. 9:3 India's Encounter with the West
Vol. 9:4 India: Security Scene
Vol. 10:1 Kashmir
Vol. 10:2 Bangladesh
Vol. 10:3 India's North-East
Vol. 10:4 Himalayan Region
Vol. 11:1 India's Neighbourhood
Vol. 11:2 Terrorism/Insurgencies in India: Perception & Reality
Vol. 11:3 India: Women Related Issues
Vol. 11:4 China
Vol. 12:1 Media in India
Vol. 12:2 Gandhi & Hind Swaraj
Vol. 12:3 North-East India
Vol. 12:4 Education in India
Vol. 13:1 India and Asia: Cultural Continuum
Vol. 13:2 Bureaucracy and Governance in India
Vol. 13:3 Afghanistan
Vol. 13:4 Indian Scholarship in Humanities and Social Sciences:
Its Achievements, Status and Linkage
Vol. 14:1 Positives and Negatives of Indian Politics
Vol. 14:2 Tibet
Vol. 14:3 The Energy Security Scenario
Vol. 14:4 India: Human Rights Issues
Vol. 15:1 India's Chronological Antiquity
Vol. 15:2 Panchayati Raj in India
Vol. 15:3 Central Asia Revisited
Vol. 15:4 Globalization, Modernisation and National Identity
Vol. 16:1 North-East India – Some Current Issues
Vol. 16:2 Lord Shiva in Asia
Vol. 16:3 Himalayan Region

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080

 3277883 (Off.)

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002

*With Best Compliments
from*

VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

*Administrative Office
LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001*

*Regd. Office
1/3575, Netaji Subhash Marg,
Darya Ganj, New Delhi-110002
Phone Off. 3277883, 3711848*